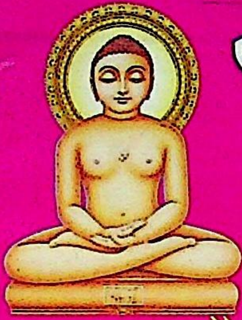
अध्यात्म रहस्य

मासिक हिन्दी पत्र







देव से ज्ञान नहीं,

शास्त्र से ज्ञान नहीं

नहीं ज्ञान से गुरु

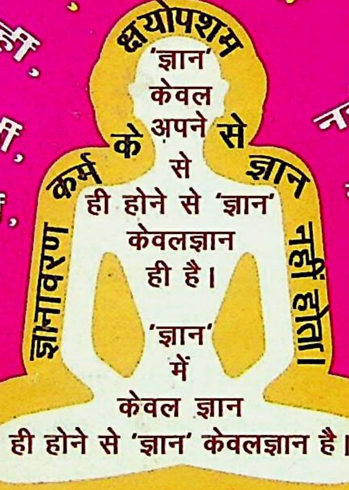
शब्द  से ज्ञान नहीं,

रूप  से ज्ञान नहीं,

गन्ध  से ज्ञान नहीं,

जीव से ज्ञान नहीं,

धर्म से ज्ञान नहीं,



नहीं ज्ञान से  रस

नहीं ज्ञान से  स्पर्श

नहीं ज्ञान से अधर्म

नहीं ज्ञान से आकाश

नहीं ज्ञान से काल

निज स्वभाव छोडे नहीं, अग्नि तप्त ज्यों हेम।
त्यों ज्ञानी कर्म से तप्त हो, तजे न अपना भेष॥

नहीं परिणमें भाव शुभाशुभ, ज्ञायक भाव पहिचान रे।
पर्यायों को पीकर बैठा, आत्मद्रव्य महान रे॥
वस्तु न छोडे निज स्वभाव को, चाहे कारण मिले हजार।
ज्ञानी प्राप्त करे शुद्धात्मा, अरु अज्ञानी करता विविध विकार॥
ज्ञानमयी भावों से ज्ञानी, मोह मदरहित परणति रचता।
भेदज्ञान की अविरल धारा, धोती अन्तर की कलुषता॥
कोऊ बडभागी महाभाग्य से, प्राप्त करे शुद्धातम रे।
पर्यायों को पीकर बैठा, आत्मद्रव्य महान रे॥

केवलज्ञान स्वभाव

समयसार गाथा १८४ से १८६ एवं कलश पर आधारित — पं. अजितकुमार जैन फिरोजाबाद'

P.O.R.018
Mainpuri
2017-2018

TITLE CODE UPHIN 44390

मई–जून 2020
वर्ष 7 अंक 5
मूल्य – 8 :

अध्यात्मरहस्य
हिन्दी मासिक
सम्पादक
अशोकजैन 'धवल'
सह सम्पादक
पं०अजितकुमारजैन
फिरो.—मो-9286512888
राजेश जैन मेंनपुरी
मो.6396248514
प्रकाशक
श्री महावीर
कुन्दकुन्द धवल
प्रभावना ट्रस्ट,
सिरसागंज (फिरो.)

अध्यात्म रहस्य सहयोग हेतु पद

शिरो. संरक्षक	51000/-
परम संरक्षक	21000/-
संरक्षक	11000/-
परम सहयोगी	5100/-
आजीवन सदस्य	1100/-
दस वर्षीय सदस्य	500/-
पंच वर्षीय सदस्य	300/-
वर्षिक सदस्य	100/-

नोटः-51000/,21000/, 11000/राशि देनेवाले दातारों के फोटो भी प्रकाशित होंगे।

निश्चय जिनस्तुति

ममल पाहुड़
श्री तारण तरण स्वामी

ज्ञान का उदय है होता, केवलज्ञान होता है,
परमात्म पद होता, सिद्ध पद मिल जाता है।
कर्म रागादि जीते, जिन वीतरागी होते हैं,
आत्मा पूर्ण प्रकाशित, सिद्धपद पा लेते हैं।।१।।

जिन से लौ लगाई जिसने, जिन को उसने पहचाना,
जिन स्वरूप निज हम लखकर, निजातम को है जाना ।
निज में रमण करें जो प्राणी, समता भाव जगाता है,
समभावों से निज में रहकर, शिवपद को पा जाता है ।।२।।

निरंतर प्रत्येक पद में, जिनेंद्र में लीन होते हैं,
जिनेंद्र सम निजातम में, अनुभव ध्यान करते हैं।
उन्नति करता भावों में, परमातम पद को पाते हैं,
समयसारमय हो जाते, मुक्तिपद प्राप्त करते हैं।।३।।

हितकारी निज आत्मध्यान में, रमण सदा जो करते हैं,
कर्मों का वे होम है करते, केवलज्ञान पा लेते हैं।
ज्ञानमई साध्य में स्थिर, जिनेंद्र साध्य को पाते हैं,
ध्रुवरूप से काल अनंते, ज्ञानरूप परिणमते हैं।।४।।

पद्यानुवाद
इंजी. सन्दीप जैन 'आत्मार्थी' कुम्हेर (भरतपुर)

अनुवादक
ब्र. शीतल प्रसाद जी

निवेदनः— 'अध्यात्म रहस्य' नियमित भेजने के लिए आप के सहयोग की अपेक्षा है, इसलिए आप , सहयोगराशि को ट्रस्ट के नाम बैंक ऑफ बड़ौदा IFSC Code- BARBOSIRGAN के **A/C 27510100010867** में एवं 2000/- रू० तक की राशि एक्सिस बैंक **IFS Code-UTIB0001801** अशोक कुमार जैन के **A/C 912010029803355** में जमा करके मो० **08923337256, 09897542375** पर अवश्य सूचित करें।

आध्यात्मिक समाचार एवं अपनी भावनायें **e-mail: dhawal.adhyatam@gmail.com** एवं अशोकजैन 'धवल', धवलप्रेस, जैननगर, इटावारोड सिरसागंज (फिरोजाबाद) उ०प्र० 283151 पर भेजें।

अध्यात्म रहस्य

पं. श्री आशाधर जी विरचित
पद्यानुवादक – पं. अभय कुमार जी
जैनदर्शनाचार्य, देवलाली

जो न किसी से मोह करे अरु राग–द्वेष भी नहीं करे।
दर्श–ज्ञान अरु साम्यरूप जो परिणत वह आत्मा शुद्ध है।।५।।
आप्त–ज्ञात–उपदिष्ट ध्येय को दृष्टा–इष्ट अविरोध सहित।
धर्म–शुक्ल में आयोजित जो करे वही गुरुवाणी श्रुति।।६।।
श्रुति द्वारा सम्यक् प्रतिपादित शुद्धात्मा को जो युक्ति।
स्पष्टरूप से करे व्यवस्थित उसे यहाँ हम कहें मति।।७।।
निज शुद्धातम में जो रहती सदा लीन उस बुद्धि को।
ज्ञानान्तर को स्पर्श करे नहिं यहाँ उसे ध्याति जानो।।८।।

इस अंक में	पर्व जुलाई २०२०
	अष्टमी – १३ सोम०, २७ सोम०
	चर्तुदशी – ४ शनि०, १९ रवि०
	श्री वीर शासन जयन्ती – ०६ सोम०
	श्री मुनिसुव्रत जी गर्भ – ०७ मंगल०
	श्री कुन्थनाथ जी गर्भ – १५ बुध०
	श्री सुमतिनाथ जी गर्भ – २२ बुध०
	श्री नेमिनाथ जी जन्म–तप – २६ रवि०
	श्री नेमिनाथ जी जन्म–तप – २६ रवि०
	श्री पार्श्वनाथ जी मोक्ष – २६ रवि०

अध्यात्म का रहस्य समझने के लिये इण्टरनेट पर 'Youtube' में जाकर '#Adhyatm Rahasya' टाइप करें। **पं. श्री अशोक जैन (धवल)** द्वारा किये गये प्रवचन सुनें तथा डाउनलोड करने के साथ–साथ Subscribe जरूर करें।

संजय जैन आगरा– ९६९००१४०७०, आयुष गुप्ता– ८१२६९२७६५२

"द्रव्यदृष्टि क्या? एवं केवलज्ञान स्वभाव" पुस्तकें जिन्हें चाहिये वे अपना पता मेंसेज करें। ९८९७५४२३७५ / ^v/;kRe jgL;* 80 izfr'kr fu%'kqYd tk jgh gS] vkidk lg;ksx visf{kr gSA

मेरी जीवन गाथा

क्षु. श्री गणेश प्रसाद वर्णी

खतौली में कुन्द कुन्द विद्यालय

एक बार बरुआसागर से खतौली गया। वहाँ पर श्रीमान भागीरथ जी भी, जो मेरे परमहितैषी बंधु एवं प्राणिमात्र की मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति कराने वाले थे, मिल गये। यहीं पर श्री दीपचंद्रजी वर्णी भी थे। उनके साथ भी मेरा परम स्नेह था। हम तीनों की परस्पर घनिष्ट मित्रता थी। एक दिन तीनों मित्र गंगा कि नहर पर भ्रमण के लिए गये। वहीं पर सामायिक करने के बाद यह विचार करने लगे कि यहां एक ऐसे विद्यालय की स्थापना होनी चाहिए, जिससे इस प्रान्त में संस्कृत–विद्या का प्रचार हो सके। यद्यपि यहां पर भाषा के जानने वाले बहुत हैं जो कि स्वाध्याय के प्रेमी तथा तत्वचर्चा में निपुण हैं तथापि क्रमबद्ध अध्ययन के बिना ज्ञान का पूर्ण विकास नहीं हो पाता।

यहां पंडित धर्मदास जी, लाला किशोरीलाल जी, लाला मंगतराम जी, लाला विश्वंभरदास जी, लाला बाबूलाल जी, लाला खिचोड़ीमल जी, तथा श्रीमहादेवी आदि तत्वविद्या के अच्छे जानकार हैं। पंडित धर्मदास जी तो बहुत ही सूक्ष्मबुद्धि हैं आपको गौम्मटसारादि ग्रंथों का अच्छा अभ्यास है। इनमें जो लाला किशोरीलाल जी हैं वह बहुत विवेकी हैं। मैं जब खुरजा विद्यालय में अध्ययन करता था तब वह आप भी वहां अध्ययन करने के लिए आए थे एक दिन आप ने क्या प्रतिज्ञा ली कि हम व्यापार में सदा सत्य बोलेंगे। आप तीन भाई थे। आपके पिताजी अच्छे पुरुष थे। धनाढ्य भी थे पिताजी ने लालकिशोरी लाल जी को आज्ञा दी कि आप दुकान पर बैठा करो आज्ञानुसार आप दुकान पर बैठने लगे। जो ग्राहक आता उसे आप सत्य मूल ही कहते थे परंतु चूंकि आजकल मिथ्या व्यवहार की बहुलता है इसलिए ग्राहक लोग से इनकी पटरी ना पटे। यह कहे 'अमुक वस्त्र पर रुपया गज मिलेगा। ग्राहक लोग वर्तमान प्रणाली के अनुसार कहे बारह आना गज दोगे' यह कहें—नहीं'। ग्राहक फिर कहें —'अच्छा साडे बारह आना गज दोगे।' यह कहे —नहीं' इस प्रकार इनकी दुकानदारी का ह्रास होने लगा। जब इनके पिताजी को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने किशोरीलाल जी को बहुत भर्त्सना की और कहा कि 'तू बहुत नादान है' समय के अनुकूल व्यापार होता है जब बाजार में सभी मिथ्या भाषण करते हैं तब क्या तू हरिश्चंद्र बनकर दुकान चला सकेगा कुछ दिनों के बाद दुकान को ध्वस्त कर देगा **लाला किशोरीलाल जी बोले पिताजी! अंत में सत्य की विजय होती है अन्यायसे धन अर्जन करना मुझे इष्ट नहीं है जितने दिन का जीवन है सूखी रोटी से भले ही पेट भर लूंगा, परंतु अन्याय से धनार्जन न करूंगा।**

किसी कवि ने कहा है —

अन्यायौपार्जितं वित्तं दश वर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति।।

यदि आपको मेरा व्यवहार इष्ट नहीं है तो आप मुझे पृथक् कर दीजिये। मेरे भाग्य में जो होगा उसके अनुसार मेरी दशा होगी, आप चिंता छोड़िये।'

पिता ने आवेग में आकर इन्हें पृथक् कर दिया। यह प्रथक हो गए इन्होंने मंदिर में जाकर इष्टदेव की आराधना की और यह प्रतिज्ञा की कि १ वर्ष में इतने रुपये का कपड़ा बेचेंगे, भाद्रमास में व्यापार न करेंगे और किसी को उधार न देंगे। यह भी निश्चय किया कि हमारे नियम के अनुसार यदि कपड़ा पहले बिक गया तो फिर भाद्रमास तक सानन्द धर्मसाधन करेंगे।

आपका अटल विश्वास अल्पकाल में ही जनता के हृदय में जम गया और अपनी दुकान प्रसिद्ध हो गई। आप प्राय कभी ९ माह और कभी १० माह ही व्यापार करते थे। इतने ही समय में आपकी प्रतिज्ञा के अनुसार माल बिक जाता था। आप थोड़े ही वर्षों में धनी हो गए आपकी दान में भी अच्छी प्रवृत्ति थी। आपके दो बालक थे आप किसी को उधार कपड़ा ना बेचते थे।

एक बार आपने ऐसा अटपटा नियम लिखा कि कपड़ा लेने वाले को प्रथम तो हम उधार नहीं देवेंगे और यदि किसी व्यक्ति ने विशेष आग्रह किया तो २००० तक देवेंगे परंतु वह दूसरे दिन तक दे जावेगा तो लेवेंगे, अन्यथा नहीं और वह भी जबकि रोकड़ वही चालू रहेगी बंद होने के बाद न लेवेंगे। दैवयोग से जिसने इनके यहां से कपड़ा उधार लिया था वह दूसरे दिन इनकी रोकड़ बंद हो गई तब रुपया लाया आपने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार रुपया नहीं लिया। यद्यपि उसने बहुत कुछ मिन्नत की पर आपने न सुनी कहने का तात्पर्य है कि आप अपनी प्रतिज्ञा से च्युत नहीं हुए। फल यह हुआ कि इनकी धाक बाजार में जम गई जिससे थोड़े ही दिन में अपनी गणना उत्तम साहूकारों में होने लगी आपको तत्वज्ञान भी समीचीन था। अध्यात्म विद्या से बड़ा प्रेम था। मेरी जो अध्यात्म विद्या में रुचि हुई, यह आपके ही संबंधों से हुई। आपको द्यानतराय जी के सैकड़ों भजन आते थे।

एक दिन मैंने खतौली में विद्यालय स्थापित करने की चर्चा कुछ लोगों के समक्ष की। तब लाला विश्वम्भरदास दास जी बोले कि आप चिंता ना करिये। शास्त्रसभा में इसका प्रसंग लाइये बात की बात में ५००० हो जावेंगे। ऐसा ही हुआ दूसरे दिन मैंने शास्त्रसभा में कहा आजकल पाश्चात्य विद्या की ओर ही लोगों की दृष्टि है और जो आत्मकल्याण की साधन संस्कृत–प्राकृत विद्या है उस और किसी का लक्ष्य नहीं। पश्चात्य विद्या का अभ्यास कर हम लौकिक सुख पाने की इच्छा से केवल धनार्जन करने में लग जाते हैं पर यह भूल जाते हैं कि यह अलौकिक सुख नहीं है नश्वर है। अनेक आकुलताओं का घर है; अत: प्राचीन विद्या की ओर लक्ष्य देना चाहिये।

उपस्थिति जनता ने यह प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया, जिससे १० मिनट में ही ५००० का चंदा भर गया और यह निश्चय हुआ कि एक संस्कृत (शेष पृष्ठ ३० पर)

अध्यात्म का रहस्य समझने के लिए पढ़िये—समझिये

समयसार स्पष्टीकरण

समयसार वचनिका

卐 भेदविज्ञान से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति एवं संवर 卐

अब प्रश्न है कि भेदविज्ञान ही से शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे होती है? उसका उत्तर गाथा द्वारा कहते हैं —

जह कणयमग्गितवियं, पि कणयभावं ण तं परिच्चियइ।
तह कम्मोदयतविओ, ण जहइ णाणी उ णाणित्तं।।१८४।।

ज्यों अग्नि तप्त सुवर्ण भी, निज स्वर्णभाव नहीं तजे।
त्यों कर्म—उदय प्रतप्त भी, ज्ञानी न ज्ञानीपन तजे।। १८४।।

अर्थः— जैसे स्वर्ण, अग्नि से तप्त होकर भी अपने उस स्वर्ण स्वभाव को नहीं छोड़ता है; उसी प्रकार ज्ञानी, कर्म के उदय से तप्तायमान होकर भी अपने ज्ञानीपने के स्वभाव को नहीं छोड़ता है।।१८४।।

पूर्व गाथाओं में शुद्धात्मा की प्राप्ति हेतु भेदविज्ञान का स्वरूप प्रकट दिखाया है।

प्रश्नः— भेदविज्ञान से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे?

समाधानः— "जैसे स्वर्ण अग्नि से तप्त होकर भी अपने उस स्वर्ण स्वभाव को नहीं छोड़ता है" उसी प्रकार भेदविज्ञान के द्वारा क्रोध आदि से भिन्न ज्ञान स्वभावी शुद्धात्मा को अनुभवने वाले **"ज्ञानी, कर्म के उदय से तप्तायमान होकर भी अपने ज्ञानीपने के स्वभाव को नहीं छोड़ता है।"**

प्रश्नः— "ज्ञानी, कर्म के उदय से तप्तायमान होता है, का क्या अर्थ है?

समाधानः— तीव्रकर्म का उदय आने पर भी ज्ञानी अपने ज्ञानीपने को नहीं छोड़ता है।

प्रश्नः— ऐसा क्या कारण है कि तीव्र कर्म का उदय आने पर भी ज्ञानी ज्ञानीपना नहीं छोड़ता है?

समाधानः— ज्ञानी, ज्ञानीपना नहीं छोड़ता है इसका कारण भेदविज्ञान है।

कैसा है भेदविज्ञान? पूर्व गाथाओं में कहा गया है 'क्रोधादि से भिन्न उपयोग स्वरूप शुद्धात्मा को देखना।'

जो भेदविज्ञान के बल से अपने शुद्धात्मा को देख लेता है, वह ज्ञानी अपने

टीका — जिसको जैसा कहा, वैसा भेदविज्ञान होता है, वही उस भेदविज्ञान के सद्भाव से ज्ञानी होकर ऐसा जानता है — **जैसे, प्रचण्ड अग्नि के द्वारा तपाया हुआ भी स्वर्ण, अपने स्वर्णपने के स्वभाव को नहीं छोडता है; वैसे प्रचण्ड तीव्रकर्म के उदय से युक्त होकर भी ज्ञान अपने ज्ञानपने को नहीं छोडता है, क्योंकि जिसका जो स्वभाव होता है, वह हजारों कारण मिलने पर भी अपने उस स्वभाव को छोडने में असमर्थ होता है। यदि वह अपने स्वभाव को छोडे तो उसे छोडने के कारण उस स्वभावमात्र वस्तु का ही अभाव हो जाता है परन्तु वस्तु का अभाव होता नहीं है क्योंकि सत्ता का नाश होना**

ज्ञानीपने को नहीं छोड़ता।

कैसे? **"जैसे, प्रचण्ड अग्नि के द्वारा तपाया हुआ भी स्वर्ण, अपने स्वर्णपने के स्वभाव को नहीं छोडता है; वैसे प्रचण्ड तीव्रकर्म के उदय से युक्त होकर भी ज्ञान अपने ज्ञानपने को नहीं छोडता है"**।।

प्रश्नः— प्रचण्ड तीव्रकर्म का उदय कहने से इसमें घातिया कर्म का उदय माना जाये या अघातिया का ही उदय माना जाये। पापकर्म का उदय ही समझा जाये या पुण्यकर्म का उदय ही माना जाये?

समाधानः— १. घातिया कर्मों का तीव्र उदय ज्ञानी के होता ही नहीं, जब तक तीव्र उदय होता है तब तक सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ नहीं होता।

२. 'तीव्रकर्म का उदय' कहने से पाप और पुण्य दोनों ही कर्मों को समझना। अज्ञानी पुण्य—पाप दोनों ही कर्मों के तीव्र उदय में विचलित होता है। 'पापकर्म के उदय में तीव्र आर्तध्यान के कारण तिर्यंच गति का बंध कर लेता है और पुण्यकर्म के उदय में रौद्रध्यान के द्वारा नरक गति का भी बंध कर लेता है परन्तु **"हजारों कारण मिलने पर भी (ज्ञानी) अपने उस (ज्ञानीपने) स्वभाव को" नहीं छोडता।**

३. क्यों नहीं छोडता? क्योंकि ज्ञानी ने वस्तु के स्वभाव को समझा है। **"जिस (वस्तु) का जो स्वभाव होता है, वह हजारों कारण मिलने पर भी अपने उस स्वभाव को छोडने में असमर्थ होता है। यदि वह अपने स्वभाव को छोडे तो उसे छोडने के कारण उस स्वभावमात्र वस्तु का ही अभाव हो जाता है परन्तु वस्तु का अभाव होता नहीं है क्योंकि सत्ता का नाश होना असंभव है।" — ऐसा ज्ञानी जानता है।**

४. वस्तु स्वभाव की श्रद्धा दृढ होने से ज्ञानी आत्मा स्वभाव में दृढ रहते हैं, इसलिये कैसा भी कर्म का उदय आ जाये ज्ञानी अपने ज्ञानीपने को नहीं छोडता; क्योंकि ज्ञानी जानता है कि कर्म का उदय कैसा भी हो वह मेरे ज्ञान स्वभाव में प्रवेश नहीं करता।

५. मेरे स्वभाव को पुण्य—पाप का उदय प्रभावित नहीं कर सकता। मेरे में तो निरन्तर ज्ञान का ही उदय वर्तता है, इसलिये कैसे भी पाप कर्म का उदय आ जावे वहाँ ज्ञानी उसे भिन्न जानते हुये अपने ज्ञान स्वभाव की प्रतीति को नहीं छोडते। देखो नरक की

असंभव है — ऐसा जानता हुआ ज्ञानी, कर्मों से व्याप्त/आक्रान्त होने पर भी रागरूप नहीं होता है, द्वेषरूप नहीं होता है और मोहरूप नहीं होता है।

तो कैसा होता है? — एक शुद्ध आत्मा ही को प्राप्त होता है।

घोर प्रतिकूलता के बीच भी भावी तीर्थंकर (श्रेणिक का जीव) असाता आदि पाप प्रकृतियों के उदय से आक्रान्त (व्याप्त संयोग) होने पर भी वे उस प्रतिकूलता में भी अनिष्ट बुद्धि और अनुकूलता की चाहरूप इष्टबुद्धि नहीं होती, इसलिये उनके राग—द्वेष नहीं होते और पाप कर्म के उदय को अपना नहीं जानते इसलिये मोहरूप नहीं परिणमते।

६. इसी प्रकार तीव्र पुण्य का उदय आ जावे वहाँ भी ज्ञानी उस पुण्य कर्म को भिन्न जानते हैं। अपने ज्ञान स्वभाव की प्रतीति को नहीं छोडते। स्वर्गादि एवं तीर्थंकरादि अवस्था में भी अति अनुकूलताओं के मिलने पर भी उन्हें अनुकूलताओं में सुखबुद्धि नहीं होती और प्रतिकूलताओं के आ जाने का भय नहीं रहता, इसलिये उनको राग—द्वेष नहीं होते और पुण्यकर्म के उदय को अपना नहीं जानते इसलिये मोहरूप नहीं परिणमते।

७. ज्ञानी मुनिराज "तीव्र परिषह, उपसर्ग एवं कर्मोदय से संतप्त होने पर भी राग—द्वेष—मोह परिणाम के त्यागरूप से परिणत अभेद रत्नत्रय लक्षण वाला भेदज्ञानी अपने स्वभाव को नहीं छोडता है। किसको नहीं छोडता है? शुद्धात्म संवेदन लक्षणरूप ज्ञानीपने को नहीं छोडता है जैसा कि पाण्डव आदि ने नहीं छोडा था।" इस प्रकार ज्ञानी "एक शुद्ध आत्मा (की अनिभूति) ही को प्राप्त होता है।

जयसेन स्वामी

प्रश्न:— यहाँ जयसेन स्वामी ने समयसार में 'ज्ञानी' के प्रसंग में मुनिराजों का दृष्टान्त दिया है — इसका तात्पर्य है कि जयसेन स्वामी ने ज्ञानी के रूप में मुनिराजों को ही माना है और आपने चौथे गुणस्थान वालों का ही उदाहरण दिया है — इसका तात्पर्य हुआ कि आप यहाँ चौथे गुणस्थान से ही ज्ञानी क्यों मान रहे हो?

समाधान:— आचार्य जयसेन स्वामी ने भी पूर्व गाथा की टीका में लिखा है— **"शुद्धात्मा की उपलब्धि होने पर भी जीव मिथ्यात्व रागादि भाव नहीं करता"** इस प्रकार जयसेन स्वामी ने शुद्धात्मा की उपलब्धि वाले के ही मिथ्यात्व — रागादिभाव नहीं माना है — इस कथन से स्पष्ट ही है कि जयसेन स्वामी ने मिथ्यादृष्टि को ही अज्ञानी माना है तब सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान से ही उनके अनुसार ज्ञानीपना हुआ। दृष्टान्त तो जयसेन स्वामी ऊंचा ही देते हैं ताकि योग्यता ऊंची हो तो ऊंचा गृहण करे। योग्यता न हो तो जैसी योग्यता हो वैसा ग्रहण करे।

प्रश्न:— अज्ञानी कैसा है?

समाधान:— "अज्ञानी, राग ही को आत्मा जानता है क्योंकि अज्ञानी अज्ञानरूप अंधकार से आच्छादित है, व्याप्त है; अत: आत्मा के स्वभाव को नहीं जानता हुआ प्रवर्तता है।"

एवं जाणइ णाणी, अण्णाणी मुणइ रायमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो, आदसहावं अयाणंतो।।१८५।।

जीव ज्ञानी जाने ये अरु, अज्ञानी राग ही जीव गिने।
आत्मस्वभाव अजान जो, अज्ञानतम—आच्छाद से।।१८५।।

अर्थ — इस प्रकार ज्ञानी जानता है लेकिन अज्ञानी, राग ही को आत्मा जानता है क्योंकि अज्ञानी अज्ञानरूप अंधकार से आच्छादित है, व्याप्त है; अत: आत्मा के स्वभाव को नहीं जानता हुआ प्रवर्तता है।।१८५।।

लेकिन जिसे पूर्वकथित भेदविज्ञान नहीं है, वह उस भेदविज्ञान के अभाव से अज्ञानी होता हुआ, अज्ञानरूप अंधकार से आच्छादित होने के कारण **चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मा के स्वभाव को नहीं जानता हुआ, राग स्वरूप ही आत्मा को मानता हुआ** रागी होता है, द्वेषी होता है और मोही होता है; शुद्ध आत्मा को कभी भी नहीं प्राप्त होता है।

अत: यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान ही से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है।

भावार्थ — जब भेदविज्ञान से आत्मा ज्ञानी होता है, तब कर्म के उदय से तप्तायमान होकर भी अपने ज्ञानस्वभाव से छूटता नहीं है क्योंकि जिसका जो स्वभाव होता है, वह चाहे जितने कारण मिलने पर भी स्वभाव से छूटता नहीं है; यदि स्वभाव से छूटे तो वस्तु का नाश हो जाये — यह न्याय है। इसलिये कर्म के उदय में ज्ञानी जीव, रागी—द्वेषी—मोही नहीं होता है किन्तु जिसे भेदविज्ञान नहीं है, वह अज्ञानी होता हुआ रागी—द्वेषी—मोही होता है। अत: यह निश्चित होता है कि **भेदविज्ञान ही से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है?**

अब, प्रश्न है कि शुद्ध आत्मा की प्राप्ति ही से संवर कैसे होता है? — उसका उत्तर कहते हैं —

सुद्धं तु वियाणंतो, सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो।
जाणंतो तु असुद्धं, असुद्धमेवप्पयं लहइ।।१८६।।

प्रश्न:— अज्ञानी राग ही को आत्मा क्यों जानता है?

सामाधान:— अज्ञानी को भेदविज्ञान नहीं है, क्योंकि कर्म—नोकर्म और रागादि से भिन्न **"चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मा के स्वभाव को नहीं जानता हुआ, राग स्वरूप ही आत्मा को मानता हुआ** रागी होता है, द्वेषी होता है और मोही होता है;" क्योंकि अज्ञानी अज्ञानरूप अंधकार से आच्छादित है, इसलिये वह "शुद्ध आत्मा को कभी भी नहीं प्राप्त होता है।" **"अत: यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान ही से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है।"**

दोनों गाथाओं का सार भावार्थ में स्पष्ट किया है। दोनों ही गाथाओं से भली भाँति स्पष्ट हो गया कि **'भेदविज्ञान न होने से अज्ञानी शुद्धात्मा को प्राप्त नहीं होता। भेदविज्ञान होने से ज्ञानी को ही शुद्धात्मा की प्राप्ति (अनुभूति) होती है।**

जो शुद्ध जाने आत्म को, वह शुद्ध आत्म ही प्राप्त हो।
जाने अशुद्ध जो आत्म को, अशुद्ध आत्म ही प्राप्त हो।।१८६।।

अर्थः— शुद्ध आत्मा को जानता (अनुभवता) हुआ जीव, शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है और आत्मा को अशुद्ध जानता (अनुभवता) हुआ जीव, अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है।।१८६।।

प्रश्नः— शुद्धात्मा किसको प्राप्त होता है और किसको नहीं प्राप्त होता?

समाधानः— "शुद्ध आत्मा को जानता (अनुभवता) हुआ जीव, शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है और आत्मा को अशुद्ध जानता (अनुभवता) हुआ जीव, अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है।"

प्रश्नः— आप कहते हो कि आत्मा शुद्धाशुद्ध है तो शुद्धाशुद्ध आत्मा के अनुभव से संवर होता है या शुद्धात्मा के अनुभव से संवर होता है?

समाधानः— जो शुद्धाशुद्ध आत्मा को जानकर अशुद्धता को हेय मानकर शुद्धता को उपादेय जानकर अनुभवता है उसे संवर होता है।

प्रश्नः— यहाँ आप शुद्धाशुद्ध आत्मा को जानने की क्यों कह रहे हो? यहाँ तो जो अशुद्धात्मा को जानता है उसे संवर नहीं कहा, जो शुद्धात्मा को जानता है वही संवर को प्राप्त होता है — इसका अर्थ हुआ — 'अज्ञानी आत्मा को अशुद्ध जानता है और ज्ञानी आत्मा को शुद्ध जानता है' आपका अभिप्राय क्या है?

समाधानः— इसी गाथा की टीका में लिखा है कि **"राग—द्वेष—मोह की संतान अर्थात् परम्परारूप उत्पत्ति का निरोध होने से, शुद्ध आत्मा को ही पाता है"** यहाँ स्पष्ट ही है कि 'राग—द्वेष—मोह के नाश से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है' अर्थात् राग—द्वेष—मोह ही तो **आत्मा की अशुद्धता है, इसके नाशपूर्वक ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है। अतः अशुद्धता है ऐसा जान कर ही जो शुद्धता को उपादेयरूप से अनुभवता है वही शुद्धता को प्राप्त होता है।**

प्रश्नः— हमने सुना है कि द्रव्य तो शुद्ध है और पर्याय अशुद्ध है, इसलिये जो पर्याय, द्रव्य को शुद्ध अनुभवती है वह शुद्धात्मा को प्राप्त होती है, आपका अभिप्राय क्या है?

समाधानः— यदि द्रव्य शुद्ध है, तो पर्याय अशुद्ध कैसे हो गई? यदि पर्याय अशुद्ध है तो द्रव्य को कैसे सिद्ध माना जाये।

प्रश्नः— हमने सुना है कि द्रव्य तो त्रिकाली है, पर्याय एक समय की है। यदि 'द्रव्य' पर्याय में आयेगा तो एक समय का अनित्य/अशुद्ध हो जायेगा, फिर वह त्रिकाली द्रव्य नहीं रहेगा, यदि 'अशुद्ध पर्याय' द्रव्य में जायेगी तो वह द्रव्य अशुद्ध हो जायेगा। तब द्रव्य—पर्याय का स्वरूप भिन्न—भिन्न नहीं रहेगा, इसलिये द्रव्य को शुद्ध ही

मानना चाहिये और 'पर्याय' द्रव्य से भिन्न अपने षट्कारक से होती है। इस प्रकार द्रव्य—पर्याय की भिन्नता और स्वतंत्रता बराबर रहती है, आप क्यों नहीं मानते?

समाधानः— ऐसी द्रव्य—पर्याय की भिन्नता—स्वतंत्रता शास्त्रों में कहीं नहीं। द्रव्य के बिना पर्याय अपने षट्कारक से हो — ऐसा शास्त्रों में नहीं है, इसलिये हम नहीं मानते।

प्रश्नः— सुना है कि द्रव्य—गुण के बिना पर्याय अपने षृटकारक से होती है— ऐसा पंचास्तिकाय गाथा ६२ की टीका में आया है। क्या आपने पंचास्तिकाय नहीं पढा?

समाधानः— अरे भाई! हमने तो पढ़ा है, आपने सुना है, पढा नहीं। अब देख लो पंचास्किास की ६२ गाथा। वहाँ तो 'औदायिक आदि भावों के षट्कारक जीव द्रव्य में' कहे हैं। स्वयं शास्त्र स्वाध्याय नहीं करोगे तो ऐसे ही कल्पित नये अध्यात्म के वचनों को सुनकर द्रव्य—पर्याय की भिन्नता की मिथ्या कल्पना करते रहोगे।

यहाँ कुछ पुराने—नये अध्यात्म की भाषा दिखाते हैं —

पुरानी अध्यात्म भाषा	नई अध्यात्म भाषा
१. द्रव्य परिणमता है।	१. पर्याय परिणमती है।
२. द्रव्य शुद्ध, गुण शुद्ध, पर्याय भी शुद्ध।	२. द्रव्य शुद्ध, गुण शुद्ध, 'पर्याय' द्रव्य का आश्रय ले तो शुद्ध हो जाती है।
३. द्रव्य अशुद्ध, गुण अशुद्ध पर्याय भी अशुद्ध।	३. द्रव्य शुद्ध, गुण शुद्ध, 'पर्याय' द्रव्य का आश्रय नहीं लेती, इसलिये अशुद्ध है।
४. परिणाम स्वभाव होने से द्रव्य परिणामी है।	४. परिणाम से भिन्न होने से द्रव्य अपरिणामी है।
५. नित्य परिणमता द्रव्य।	५. द्रव्य, ध्रुव कूटस्थ है बिनापरिणमन का।
६. आत्मा रागादिरूप परिणमता है।	६. द्रव्य नहीं, रागादिरूप पर्याय परिणमती है।
७. अनादि से आत्मा मिथ्यादृष्टि है।	७. पर्याय में मिथ्यात्व होता है।
८. आत्मा सम्यग्दृष्टि होता है।	८. पर्याय में सम्यग्दर्शन होता है।
९. परद्रव्य से भिन्न अपने गुण—पर्यायों में व्याप्त आत्मा का श्रद्धान नियम से सम्यग्दर्शन है।	९. पर्यायों से भिन्न ध्रुव का अहं सम्यग्दर्शन है।
१०. शुद्धात्मा को अनुभवता हुआ जीव शुद्धात्मा को प्राप्त होता है।	१०. शुद्धात्मा को अनुभवती हुई पर्याय शुद्धात्मा को प्राप्त होती है।
११. आत्मा को अशुद्ध अनुभवता हुआ जीव अशुद्ध आत्मा को प्राप्त होता है।	११. आत्मा को अशुद्ध अनुभवती हुई पर्याय अशुद्ध आत्मा को प्राप्त होती है।

टीका — जो पुरुष, सदा ही अविच्छिन धारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता हुआ अवस्थित होता है; वह पुरुष, ज्ञानमयी भाव से ज्ञानमयी ही भाव होते हैं — इस न्याय से आगामी कर्मों के आस्रव की निमित्तभूत राग—द्वेष—मोह की संतान अर्थात् **परम्परारूप उत्पत्ति का निरोध होने से, शुद्ध आत्मा को ही पाता है तथा जो जीव, नित्य ही अज्ञान से अशुद्ध आत्मा को प्राप्त होता हुआ तिष्ठता है; वह जीव अज्ञानमयी भावों से अज्ञानमयी ही भाव होते हैं — इस न्याय से आगामी कर्मों के आस्रव की निमित्तभूत राग—द्वेष—मोह की सन्तानरूप उत्पत्ति का निरोध नहीं होने से, अशुद्ध आत्मा को ही पाता है। इस प्रकार शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से संवर होता है।**

इस प्रकार पुराने—नये अध्यात्म की भाषा समझकर सत्य निर्णय कर सकते हैं।

यहाँ इस गाथा में बताया है कि जो आत्मा की शुद्धता को नहीं जानते, अशुद्धता को ही जानते/अनुभवते हैं वे अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होने से आस्रव होता है, संवर नहीं होता।

जो अशुद्धता को हेय जानकर अशुद्धता से भिन्न आत्मशुद्धता को अनुभवते हैं वे शुद्धात्मा को प्राप्त होने से उन्हें संवर होता है।

"शुद्धात्मा को प्राप्त पुरुष कैसा? "जो पुरुष, सदा ही अविच्छिन धारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता हुआ अवस्थित होता है; वह पुरुष, ज्ञानमयी भाव से ज्ञानमयी ही भाव होते हैं — इस न्याय से आगामी कर्मों के आस्रव की निमित्तभूत राग—द्वेष—मोह की संतान अर्थात् परम्परारूप उत्पत्ति का निरोध होने से, शुद्ध आत्मा को ही पाता है।"

अर्थात् शुद्धात्मा धारावाही ज्ञान से अनुभवता हुआ शुद्धात्मा को प्राप्त होता है। **ज्ञान में ज्ञान को ही अनुभवता है — इस न्याय से ज्ञानी के ज्ञान भाव ही होते हैं क्योंकि "उपादान कारण के समान ही कार्य होता है" इसलिये जो शुद्धज्ञान स्वभाव को अनुभवते हैं उनके राग—द्वेष—मोह की परम्परा टूट जाने से वे शुद्धात्मा को ही प्राप्त होते हैं।**

जयसेन स्वामी

अशुद्धात्मा को प्राप्त पुरुष कौन? "जो जीव, नित्य ही अज्ञान से अशुद्ध आत्मा को प्राप्त होता हुआ तिष्ठता है;" अर्थात् जो शुद्ध ज्ञानस्वभाव को नहीं अनुभवता मात्र अशुद्धता को ही अनुभवता है अर्थात् पर के साथ सम्बन्ध जोड़ कर अपने को देखता है उस **अज्ञानी के "अज्ञानमयी भावों से अज्ञानमयी ही भाव होते हैं** — इस न्याय से आगामी **कर्मों के आस्रव की निमित्तभूत राग—द्वेष—मोह की सन्तानरूप उत्पत्ति का निरोध नहीं होने से, अशुद्ध आत्मा को ही पाता है।" इसलिये अज्ञानी को संवर की प्राप्ति नहीं होती है ज्ञानी को ही "शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से संवर होता है।"**

"भावार्थ — आत्मा को शुद्ध अनुभव करने वाले को तो शुद्धता ही की प्राप्ति होती है, उसके आस्रव रुकते हैं और संवर होता है तथा आत्मा को अशुद्ध अनुभव करने

भावार्थ — आत्मा को शुद्ध अनुभव करने वाले को तो शुद्धता ही की प्राप्ति होती है, उसके आस्रव रुकते हैं और संवर होता है तथा आत्मा को अशुद्ध अनुभव करने वाले को अशुद्धता ही की प्राप्ति होती है, उसके आस्रव रुकते नहीं हैं और संवर होता नहीं है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

।। मालिनी ।।

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन,
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा,
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाऽभ्युपैति।। १२७।।

अर्थ— जो आत्मा, किसी प्रकार बड़े भाग्य से {काललब्धि एवं उत्कृष्ट पुरुषार्थ से} धारावाही ज्ञान के द्वारा निश्चल शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता हुआ तिष्ठता है, तो यह आत्मा उदयरूप होता है, अपने आत्मारूपी क्रीड़ावन को प्राप्त होता हुआ, अपनी आत्मा को परपरिणति अर्थात् राग—द्वेष—मोह के निरोध से शुद्ध ही पाता है। इस प्रकार शुद्ध आत्मा की प्राप्ति (अनुभूति) से संवर होता है।

वाले को अशुद्धता ही की प्राप्ति होती है, उसके आस्रव रुकते नहीं हैं और संवर होता नहीं है।"

गाथा के भाव को दृढ करने के लिये आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कलश लिखते हैं — इस कलश में आचार्यभगवंत कहते हैं —

भो आत्मन्! तुम किसी प्रकार काललब्धि एवं पुरुषार्थ से धारावाही ज्ञान के द्वारा अपने निश्चल शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त करते/अनुभवते हुये स्वरूप में तिष्ठो/ठहरो तभी इस आत्मा में आनन्दमयी क्रीडा (चिद्‌विलास) को प्राप्त होंगे, तभी आत्मा राग—द्वेष मोह—के अभावरूप शुद्धता को पाता है।

"इस प्रकार शुद्ध आत्मा की प्राप्ति (अनुभूति) से संवर होता है।"

प्रश्नः— 'शुद्धात्मा की अनुभूतिरूप धारावाही ज्ञान' काललब्धि से या पुरुषार्थ से प्राप्त होता है?

समाधानः— जहाँ पुरुषार्थ यथावत् होता है वहाँ सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होती ही होती है। जिस समय कार्य की प्राप्ति हुई, वही समय काललब्धि कहलाता है। जब कार्य होता है तब सभी कारण मिलते ही हैं।

प्रश्नः— धारावाही ज्ञान का अर्थ क्या?

समाधानः— एक प्रवाहरूपज्ञान को धारावाहीज्ञान कहते हैं। धारावाही ज्ञान को दो प्रकार समझना। (१) ज्ञानप्रवाह सामान्य (२) ज्ञानप्रवाह विशेष।

सवैया तेईसा — समयसार नाटक पृष्ठ १२३

जो कबहूं यह जीव पदारथ, औसर पाइ मिथ्यात मिटावै।
सम्यक धार प्रवाह बहै गुन, ज्ञान उदै मुख ऊरध धावै।।
तो अभिअंतर दर्वित भावित, कर्म कलेस प्रवेस न पावै।
आत्म साधि अध्यातम के पथ, पूरन ह्वै परब्रह्म कहावै।।

---

(१) ज्ञानप्रवाह सामान्य अनादि—अनन्त है।

१. अनादि से आत्मा में एकरूप ज्ञान का प्रवाह चल रहा है और अनन्त काल तक चलता ही रहेगा। इसी व्यक्त ज्ञानप्रवाह को **ज्ञानसामान्य** कहते हैं।

२. ज्ञान सदा ज्ञानरूप ही है, ज्ञेयरूप नहीं है, इसलिये इस ज्ञानप्रवाह को सामान्य दृष्टि से इसे **ज्ञानाकार** भी कहते हैं।

३. इस ज्ञानस्वभाव की अनुभूति को ही आत्मानुभूति कहते हैं, इसलिये यह ज्ञानप्रवाह आत्मानुभूति का आश्रयभूत कारण होने से इस ज्ञानप्रवाह को **कारणज्ञान** भी कहते हैं।

४. यह ज्ञानस्वभाव "द्रव्यकर्म—भावकर्म—नोकर्मरूपी कलंक से रहित" होने से यह ज्ञानप्रवाह को **सिद्ध** भी कहते हैं।

५. इस ज्ञान का (जानन जानन.........) प्रवाह ही आत्मा की पहिचान होने से आत्मा का **लक्षण** भी कहते हैं।

६. यह ज्ञान देव—शास्त्र—गुरु—इंद्रियाँ—ज्ञेयों—क्षयोपशम से नहीं होता, इसलिये इस ज्ञानप्रवाह को **निरपेक्ष ज्ञान** भी कहते हैं।

७. ज्ञान केवल आत्मा में ही होता है। ज्ञान में केवल ज्ञान ही वर्तता है और कुछ नहीं, इसलिये इस ज्ञानप्रवाह को **केवलज्ञान** भी कहते हैं।

८. ज्ञान में ज्ञेयाकार होता है, परन्तु ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं होती, इसलिए इस ज्ञानप्रवाह को **ज्ञायकभाव** भी कहते हैं।

९. चैतन्यानुविधायी अर्थात् चैतन्य का अनुसरण होने से ज्ञानप्रवाह को **उपयोग** भी कहते हैं।

१०. ज्ञान में चैतन्य की ही चमक (छवि) होने से ज्ञानप्रवाह को **चित् चमत्कार** भी कहते हैं।

११. चैतन्य स्वरूपी होने से इस ज्ञानप्रवाह को **चिद्रूप** भी कहते हैं।

१२. ज्ञान में ज्ञान का ही वेदन वर्तता है, इसलिये इस ज्ञानप्रवाह को **स्वसंवेदन** भी कहते हैं।

१३. निरंतर अनुभवरूप होने से इस ज्ञानप्रवाह को **अनुभूतिस्वरूप** भी कहते हैं।

१४. निरंतर प्रकाशमान होने से इस ज्ञानप्रवाह को **आत्मज्योति** भी कहते हैं।

यहाँ धारावाही ज्ञान का अर्थ यह है कि जो एक प्रवाहरूप ज्ञान होता है, वह धारावाही ज्ञान है। इसकी दो रीतियाँ हैं — १. एक तो मिथ्याज्ञान बीच में न आये, ऐसा सम्यज्ञान ही धाराप्रवाही ज्ञान है और २. दूसरा, उपयोग को ज्ञेय में एकाग्रता पूर्वक लगाने की अपेक्षा है। जब तक उपयोग, एक ज्ञेय में लगा रहे, तब तक धारावाही है परन्तु इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त ही है, उसके बाद उपयोग, वहाँ से हट जाता है; अत: **जहाँ जैसी विवक्षा कही हो, वहाँ वैसा जानना चाहिये।** श्रेणी चढने पर उपयोग शुद्ध आत्मा में उपयुक्त होकर धारावाही होता है।

यहाँ पं. जयचन्द छावडा ने धारावाही ज्ञानविशेष की व्याख्या की है —

(२) ज्ञानप्रवाह विशेष, सादि—सांत और सादि—अनन्त दो प्रकार से है।

१. जिस धारावाही ज्ञानप्रवाह का प्रारम्भ भी हो और अंत भी हो उसे सादि—सांत कहते हैं।

२. जिसधारावाही ज्ञान का प्रारम्भ हो और अंत न हो उसे सादि—अनंत कहते हैं।

(१) सम्यग्ज्ञानरूप प्रवाहविशेष (२) ज्ञानस्वभाव में एकाग्रतारूप प्रवाहविशेष।

१. सम्यग्ज्ञान प्रवाहविशेष चलता है फिर बीच में मिथ्याज्ञान आ जाता है तब वह सादि—सांत प्रवाह कहलाता है। यदि मिथ्याज्ञान बीच में नहीं आता, सम्यग्ज्ञान ही चलता रहता है। सम्यग्ज्ञान का अंत नहीं आता है, तब वह सम्यग्ज्ञान प्रवाह सादि—अनंत कहलाता है।

२. ज्ञानस्वभाव में एकाग्रतारूप प्रवाहविशेष अर्थात् शुद्धोपयोग अंतर्मुहूर्त रहता है तब उसे सादि—सांत प्रवाह कहते हैं। 'क्षपक श्रेणी में जीव को शुद्धोपयोग होने पर नहीं छूटता तब वह धारावाही शुद्धोपयोग प्रवाह सादि—अनन्त कहलाता है।

"अत: जहाँ जैसी विवक्षा कही हो, वहाँ वैसा जानना चाहिये।"

इस प्रकार शुद्धात्मा की उपलब्धिरूप धारावाही ज्ञानप्रवाह विशेष से ही संवररूप होता है।

प्रश्न:— शुद्धोपयोगरूप आत्मानुभूति से संवर होता है या शुद्धोपयोग के अभाव में सम्यग्ज्ञान से भी संवर होता है।

समाधान:— उपयोगरूप आत्मानुभूति को शुद्धोपयोग कहते हैं तब तो संवर होता ही है, परन्तु सम्यग्ज्ञानी को जब आत्मानुभूति उपयोगरूप नहीं होती, लब्धिरूप रहती है तब भी संवर होता है।

प्रश्न:— शुद्धोपयोग के अभाव में भी क्या ज्ञानी को आत्मानुभूति रहती है?

समाधान:— हाँ रहती है, ऐसा पञ्चाध्यायी में लिखा है।

प्रश्न:— लब्धिरूप अनुभूति कैसे?

समाधान:— जैसे शीलवती नारी का उपयोग जब पति की तरफ (शेष पृष्ठ ३० पर)

अध्यात्म समर्थन

अध्यात्म जगत के क्रान्तिकारी

निर्भीक विद्वान पं. श्री अशोक कुमार जी धवल, सिरसागंज वालों ने आचार्य श्री कुन्दकुन्द के परमागम समयसार का स्पष्टीकरण लिखा है। उसका प्रथम भाग अभी प्रकाशित हो रहा है, इससे पूर्व इन दूरदर्शी विद्वान श्री ने दो मार्मिक पुस्तकें **"द्रव्यदृष्टि क्या?"** और **"केवलज्ञान स्वभाव"** को इस आध्यात्मिक जगत में अपनी लेखनी से प्रकाशित किया है। इसके अतिरिक्त एक मासिक पत्रिका **"अध्यात्मरहस्य"** के नाम से सम्पादन कर निकाल रहे हैं।

इन दूरदर्शी विद्वान श्री ने जिनागमरूपी सागर में गोते लगाकर दोनों उपयुक्त पुस्तकों में जो भ्रातियों के निराकरण प्रस्तुत किये हैं, जिससे अध्यात्मिक जगत में हलचल मचगई है। कतिपय हठधर्मी एकान्ती मुमुक्षुओं ने इनका विरोध तो किया फिर भी इनकी लेखनी में किंचित् आगम विरुद्धता नहीं बता पाए, परन्तु निष्पक्ष मुमुक्षुओं ने दोनों ही पुस्तकों का समर्थन किया एवं अत्यंत उपयोगी भी माना और अपने सहमति पत्र भी भेजे और वे इनसे प्रभावित होकर इनके समर्थक और प्रचारक भी हुये।

पं. श्री टोडरमल जी एवं पं. श्री जयचन्द्र जी छावड़ा आदि हंसरूपी विद्वानों ने अपने नीर–क्षीर विवेक से आगम के महासागर से मोती निकाले हैं, परन्तु इस प्रस्तुत स्पष्टीकरण में भी पं. श्री अशोक कुमार जी धवल ने विशिष्ट आध्यात्मिक ज्ञान को पूर्व दोनों कृतियों की तरह ही **"समयसार स्पष्टीकरण" में भी स्वयं अनेक प्रश्नों को उठाकर समाधान द्वारा अनेक भ्रान्तियों का निराकरण करते हुये ग्रन्थराज समयसार का रहस्य स्पष्ट किया है** जो अवश्य ही अनुकरणीय है।

जो समयसार स्पष्टीकरण का निष्पक्ष स्वाध्याय करेगा वह अवश्य ही अपने संसार को मिटाकर मोक्षमार्ग को प्राप्त करेगा — ऐसी इस अल्पज्ञ की हार्दिक मनोभावना है।

— पं. विमल कुमार जैन जलेसर, एटा

समयसार स्पष्टीकरण का इंतजार

हमारा समयसार जी के स्वाध्याय का अभी प्रारम्भ ही हुआ है। हमने गाथा ४ का स्पष्टीकरण पढ़ा था, जिसमें लेखक ने बंध की कथा के बारे में बहुत ही सरल शब्दों के माध्यम से जो स्पष्ट किया है वह बहुत ही सराहनीय है। आगम अभ्यास से बंध की कथा से हमको पाप–पुण्य क्रिया का ज्ञान तो हुआ है परन्तु एकत्व–विभक्त आत्मा के वैभव का ज्ञान नहीं हुआ; इसीलिये महामोहरूपी भूत उतरा नहीं। महा मोहरूपी भूत की व्याख्या बहुत ही विशद और स्पष्ट है। मोहरूपी भूत (मिथ्यात्व) को नष्ट करने के लिये समयसार का स्पष्टीकरण बहुत ही उपयोगी होगा। मुझे स्वाध्याय करना है, इसलिये समयसार स्पष्टीकरण का इंतजार है।

श्रीमती शोभा जैन, अध्यापक, सिरसागंज

श्रुतपंचमी के कारणभूत षट्खण्डागम की टीकाओं की दुर्लभता

केवलज्ञान की पूर्णता को प्राप्त **भगवान महावीर स्वामी** की दिव्य देशना से प्राप्त जो सिद्धान्त अवतरित हुआ, वह सिद्धान्त **गौतमस्वामी** के द्वारा परिपाटी क्रम से **सुधर्मस्वामी, जम्बुस्वामी** से होता हुआ, आचार्य परम्परा से द्वादशांग के ज्ञाता **भद्रबाहु स्वामी** को, तद्उपरान्त गुरु परम्परा से एकदेश ज्ञान **धरसेन स्वामी** को प्राप्त हुआ।

द्वादशांग के एकदेश ज्ञाता, जिनवर कथित सिद्धान्तामृत सागर की तरंगों से प्रक्षालित, चैतन्यामृत पीने वाले अतीन्द्रिय आनन्द के भोक्ता महान समर्थ दिगम्बर आचार्य धरसेन स्वामी से शिक्षित जिन सिद्धान्त के सर्वोत्तम पात्र, सिद्धान्त साधक, संक्षिप्त श्रोता और विस्तारित रचयिता दि० **आचार्य पुष्पदन्त–भूतबली** द्वारा रचित सिद्धान्त रचना 'षट्खण्डागम' महान ग्रन्थ प्रथमश्रुत के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

प्रथमश्रुत **'षट्खण्डागम'** शास्त्र की प्रथम टीका **'परिकर्म'** के टीकाकार, अद्भुत निधि वाले, चैतन्य रत्नाकर को ज्ञानपर्याय रूपी तरंगों से अभिन्न भगवान आत्मा को दर्शाने वाले, सर्वप्रथम परम अध्यात्मिक ग्रन्थ समयसारादि ८४ पाहुड के रचयिता, प्रात: स्मरणीय **दि० आचार्य कुन्दकुन्द** ही थे।

'षट्खण्डागम' की **द्वितीय टीका आचार्य शामकुण्ड** कृत, **तृतीय टीका 'चूडामणि' के कर्ता तुम्बुलुराचार्य** थे, चतुर्थ टीका **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** की, पाँचवी 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' टीका **वप्पदेवगुरु** कृत थी। परन्तु ये पाँचों टीकायें उपलब्ध नहीं हैं।

सर्वाधिक **{७२००० श्लोक प्रमाण धवला और २०००० श्लोक प्रमाण जयधवला** की अपूर्ण टीका के} रचयिता, जिन सिद्धान्त के महान ज्ञाता, केवली का विरह भुलाने वाले केवली सम, सभी जीवों के केवलज्ञान की सिद्धि करने वाले भावलिंगी सन्त दि० **आचार्य श्री वीरसेन स्वामी** द्वारा रचित शाके सं. ७३८ कार्तिक शुक्ल १३ को पूर्ण हुई **'धवला' टीका, मूडविद्री में केवल दर्शन मात्र थी,** परन्तु स्वाध्याय के लिए किसी को प्राप्त नहीं हुई। धवल, जयधवल, महाधवल शास्त्र जी लाने के लिये आचार्य कल्प पं. प्रवर श्री टोडरमल जी की प्रेरणा से अनेक साधर्मी भाई वहाँ गये, ४–५ वर्ष में वापिस आये। उस समय २०००/– रुपये खर्च हुये, मार्ग में भाई डालूराम जी की आयु भी पूर्ण हो गयी, परन्तु धवलादि शास्त्र नहीं मिले, बाद में अनेक प्रयास करने पर भी मूडविद्री से धवलादि ग्रंथ प्राप्त नहीं हुये। लेकिन तत्व जिज्ञासुओं के महाभाग्य से सन् १८९६ से १९१६ के बीच **पंडित गजपति उपाध्याय के द्वारा धवला टीका की प्रतिलिपि की गयी, उसी समय पं. जी ने अपनी विदुषी पत्नी लक्ष्मीबाई के सहयोग से गुप्तरीति से एक प्रतिलिपि करके सहारनपुर भेज दी।**

पं० सीताराम शास्त्री के द्वारा सहारनपुर की प्रति से हुयी अन्य प्रतिलिपियों के आधार से ही पं. श्री फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री डा० हीरालाल जैन, डा० ए.एन.

उपाध्ये आदि विद्वानों द्वारा हिन्दी अनुवादादि सहित संशोधन सोलह पुस्तकों में सन् १९३६ से १९५६ तक २० वर्षों में पूर्ण हुआ। तब धवला के तीन भाग प्रकाशित होने पर मूडविद्री के भट्टारक के भावों में परिवर्तन हुआ, और उन्होंने मिलान करने के लिये ताडपत्री प्रतियों के फोटो चित्र कराने की आज्ञा दे दी। मूडबिद्री की प्रति से संशोधन करने के पश्चात् सन् १९५९ तक १६ पुस्तकों के प्रथम संस्करण प्रकाशित हुये। इसप्रकार यह अत्यन्त दुर्लभ 'धवला टीका' अनेक विद्वानों व श्रीमन्तों के अत्यंत प्रयास से प्रकाशित हुयी है।

वह धवला टीका कैसी है? जैसे अथाह जल के सागर में रत्नों का भंडार भी होता है; उसीप्रकार इस आगम के महासागर में आध्यात्मिक रत्नों का भण्डार भी है, और जिस प्रकार स्वर्ण के आभूषण रत्न जड़ित होने से अत्यन्त शोभायमान होते हैं, उसीप्रकार षट्खण्डागम की धवला टीका में परम आध्यात्मिक "मंगल निरूपण" होने से अत्यन्त शोभायमान है।

जिज्ञासाः— धवला टीका में 'मंगल निरूपण' क्या?

समाधानः— १. "जीवो मंगलम्" अर्थात् जीव मंगल है। धवला १ पृष्ठ ३५

२. पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा केवलज्ञानादि पर्यायों को मंगल माना है।

३. {अनादि—अनन्त} कभी भी नहीं टूटने वाली {धारावाही} ज्ञान संतान {प्रवाह} की अपेक्षा केवलज्ञान के सदा पाये जाने में कोई विरोध नहीं आता है। धवला १ पृष्ठ ३८

४. केवलज्ञान और केवलदर्शन से भिन्न ज्ञान और दर्शन का सद्भाव नहीं पाया जाता है। {ऐसे अनेकों कथन हैं।} धवला १ पृष्ठ ३८

जिज्ञासा— ऐसा "मंगल निरूपण" कहाँ है?

समाधान— देखो, प्रथम श्रुत षट्खण्डागम की हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित धवला टीका की सोलह पुस्तकों में से प्रथम पुस्तक में छह खण्डों के प्रथम खण्ड 'जीवट्ठाण' के अन्तर्गत सत्प्ररूपणा में मंगलाचरण का प्रथम मंगल सूत्र है। —

"णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।।"

इसी सूत्र की व्याख्या में ग्रन्थ का मंगल, निमित्त, हेतु, परिणाम, नाम और कर्ता के व्याख्यान में प्रथम 'मंगल' का धातु, निक्षेप, नय, एकार्थ, निरूक्ति, ६ अनुयोगों द्वारा "मंगल निरूपण" किया है।

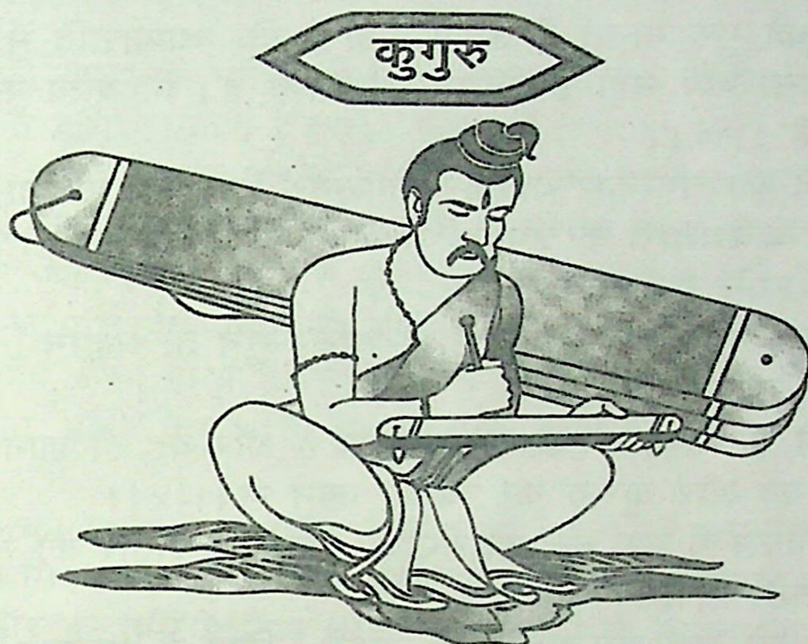
इसी प्रकार रसीले केवलज्ञान के रसिक आचार्य वीरसेन स्वामी ने **'कषाय पाहुड़' की जयधवल टीका** के हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित प्रथम भाग में ही, प्रथम गाथा की व्याख्या में **"केवलणाण सिद्धि"** विवेचन पृष्ठ ४४ से ६५ तक सभी जीवों के **'व्यक्तज्ञान' को आगम, न्याय, तर्क, युक्ति से केवलज्ञान सिद्ध किया है।**

आधार "केवलज्ञान स्वभाव" पुस्तक पृष्ठ ३१ से ३३

उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला

पं. श्री नेमिचन्द जैन भण्डारी
पं. श्री भागचंद जी छाजेड़

कुगुरु



(१) मिथ्यावेषधारी रागी कुगुरुओं के द्वारा ठगाये जाते हुए जीव अपनी धर्म रूपी निधि के नष्ट होते हुए भी इस बात को मानते नहीं हैं, जानते नहीं हैं।।गाथा ५।।

(२) **प्रश्न**—हमारे तो मिथ्यावेषधारी कुगुरुओं की सेवा कुलक्रम से चली आई है तो हम अपने कुलधर्म को कैसे छोड़ दें ?

उत्तर—हे मूढ़ ! लोकप्रवाह तथा कुलक्रम में धर्म नहीं होता। यदि लोकप्रवाह अर्थात् अज्ञानी जीवों के द्वारा माने हुए आचरण और अपने कुलक्रम में ही धर्म हो तो म्लेच्छों के कुल में चली आई हुई हिंसा से भी धर्म होगा तब फिर अधर्म की परिपाटी कौन सी ठहरेगी !।।६।।

(३) यदि कोई अपने को बड़े आचार्यों के कुल का बताकर पाप करेगा तो पापी ही है, गुरु नहीं है-ऐसा जानना।।७।।

(४) कई जीव संसार से छूटने के लिये कुगुरुओं का सेवन करते हैं उनको यहाँ कहा है कि वीतराग भाव के पोषक जिनवचनों को जानकर भी जब संसार से उदासीनता नहीं उपजती तो फिर राग-द्वेष को पुष्ट करने वाले कुगुरुओं के निकट संसार से विरक्तता कैसे उपजेगी अर्थात्

कभी भी नहीं उपजेगी।।८।।

(५) कई जीव व्यापारादि को छोड़कर ज्ञान बिना आचरण करते हुए भी अपने आपको गुरु मानते हैं उनसे कहा है कि 'व्यापारादि में होने वाला आरम्भ इतना पाप नहीं है जितना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व सब पापों में बड़ा पाप है'।।१०।।

(६) विद्यादि का चमत्कार देखकर भी कुगुरु का प्रसंग करना योग्य नहीं है क्योंकि स्वेच्छाचारी के उपदेश से अपने श्रद्धानादि मलिन हो जाने से बहुत बड़ी हानि होती है।।१८।।

(७) अश्रद्धानी कुगुरु के मुख से यदि शास्त्र सुने तो श्रद्धान निश्चल नहीं होता-ऐसा तात्पर्य है।।२२।।

(८) वह ही तो कथा है, वह ही उपदेश है और वह ही ज्ञान है जिससे जीव गुरु का और कुगुरु का स्वरूप जान ले।।२४।।

(९) पंचम काल में गुरु भाट हो गए जो शब्दों से दातार की स्तुति करके दान को लेते हैं।।३१।।

(१०) आज जो गुरु कहलाते हैं वे अपनी महिमा में आसक्त हुए यथार्थ धर्म का स्वरूप नहीं कहते अतः इस काल में जिनधर्म की विरलता है।।३२।।

(११) जो जीव श्रद्धानी हैं उनको कुगुरु यथार्थ मार्ग के लोपने वाले अनिष्ट भासते हैं कि 'इनका संयोग जीवों को कदाचित् मत होओ'।।३४।।

(१२) श्रीगुरु तिल के तुष मात्र भी परिग्रह से रहित ही होने चाहिएं परन्तु आज गृहस्थ से भी अधिक तो परिग्रह रखते हैं और अपने को गुरु मनवाते हैं सो यह बड़ा अकार्य है।।३५।।

(१३) सर्प को जो त्यागे उसको तो सब भला कहते हैं परन्तु कुगुरु को जो त्यागे उसे मूर्ख जीव निगुरा व दुष्ट कहते हैं-यह बड़े खेद की बात है क्योंकि सर्प से भी अधिक दुःखदायी कुगुरु है।।३६।।

(१४) सर्प तो एक ही मरण देता है पर कुगुरु के प्रसंग से मिथ्यात्वादि पुष्ट होने से जीव निगोदादि में अनंत मरण पाता है इसलिए सर्प का ग्रहण तो भला है परन्तु कुगुरु का सेवन भला नहीं है।।३७।।

(१५) गुण-दोष का निर्णय न करके जिनाज्ञा से प्रतिकूल कुगुरु को भी गुरु कहकर नमस्कार करते हैं सो लोक क्या करे, भेड़चाल से ठगाया गया है।।३८।।

(१६) मोह की यह भारी महिमा है कि नाना प्रकार के परिग्रहों की याचना करने पर भी कुगुरु प्रवीण ठहराया जाता है।।३९।।

(१७) कुगुरु अपने मिथ्या वेष से भोले जीवों को ठगकर कुगति में खींचे ले जाते हैं। कैसे हैं वे कुगुरु ? नष्टबुद्धि हैं अर्थात् कार्य-अकार्य के विवेक से रहित हैं तथा लज्जा रहित हैं एवं चाहे जो बोलते हैं अतः ढीठ हैं और धर्मात्माओं के प्रति द्वेष रखने से दुष्ट भी हैं।।४०।।

(१८) जो जीव जैसा होता है उसकी वैसे ही जीव के साथ प्रीति होती है सो जो तीव्र मोही कुगुरु हैं उनके प्रति मोहियाँ की ही प्रीति होती है।।४१।।

(१९) कुगुरु को पक्षपातवश सुगुरु मिथ्यादृष्टि जीव ही बतलाते हैं।।४४।।

(२०) कुगुरु मिथ्यात्व का आचरण करते हुए भी स्वयं को सुगुरु का शिष्य बताते हैं और वस्त्रादि परिग्रह धारण करते हुए भी अपना आचार्य आदि पद मानते हैं सो योग्य नहीं।।७२।।

(२१) मात्र वेष धारण किया है जिन्होंने उन्हें वंदन करने से, उनकी शिक्षाओं को ग्रहण करने से तथा उनकी विशेष भक्ति करने से जीव महा भव-समुद्र में डूबते हैं इसलिए उन्हें दूर से ही त्याग देना चाहिये।।८२।।

(२२) मिथ्यात्व के मूल कारण कुगुरुओं के ही त्याग कराने का यहाँ प्रयोजन है।।१०४।।

(२३) इस दुःखमा काल में राग-द्वेष सहित नाम मात्र के गुरु बहुत हैं पर धर्मार्थी सुगुरु दुर्लभ हैं।।११२।।

(२४) कितने ही गुरु तो देखे जाते हुए भी तत्त्वज्ञानियों के हृदय में नहीं रमते अर्थात् वे लोक में तो गुरु कहलाते हैं परन्तु उनमें गुरुपने के गुण नहीं होते, ऐसे गुरु तत्त्वज्ञानियों को नहीं रुचते पर कई गुरु अदृष्ट हैं, देखने में नहीं आते तो भी ज्ञानी उनका परोक्ष स्मरण करते हैं जैसे जिन हैं इष्ट जिनको ऐसे गणधरादि आज प्रत्यक्ष नहीं हैं तो भी ज्ञानियों के हृदय में वे रमते हैं।।१२९।।

(२५) 'हम तो कुगुरुओं को ही सुगुरु के समान जानकर पूजेंगे, गुणों की परीक्षा करके हमें क्या करना है'-ऐसा यदि कोई कहता है तो उसका निषेध है कि 'अति पापी और परिग्रहादि के धारी कुगुरुओं को तुम सुगुरु के समान नहीं मानो'।।१३०।।

(२६) भगवान की वाणी में स्थान-स्थान पर कहा गया है कि 'जो परिग्रहधारी विषयाभिलाषी आदि हैं वे कुगुरु हैं उन्हें सुगुरु नहीं मानो' सो तुम उस वाणी को प्रमाण करो।।१३२।।

(२७) रत्नत्रय का साधकपना साधु का लक्षण है सो निश्चय दृष्टि से अन्तरंग तो दीखता नहीं परन्तु व्यवहारनय से सिद्धान्त में जो महाव्रतादि आचरण और गुरुओं के योग्य क्षेत्र-काल कहा है उसके द्वारा उन्हें परख लेना चाहिये कि वह इनमें है या नहीं सो गुरुओं के योग्य जो क्षेत्र-काल न हो वहाँ पर जो स्थित हों और पाँच महाव्रतादि का आचरण जिनमें नहीं पाया जाता हो वे कुगुरु हैं।।१३४।।

(२८) जो-जो लोक में गुरु दीखते हैं अथवा गुरु कहलाते हैं वे-वे शास्त्र के द्वारा परीक्षा करके ही पूजने योग्य हैं। शास्त्रोक्त गुण जिनमें नहीं दिखाई दें उनको नहीं पूजना।।१३९।।

(२९) हमारे तो ये ही गुरु हैं, हमें गुण-दोष विचारने से क्या प्रयोजन-ऐसा पक्षपात त्यागकर शास्त्र में गुरु के जैसे गुण-दोष कहे हैं वैसे विचार कर लोकमूढ़ता त्याग के गुरु को मानना योग्य है।।१४०।।

(३०) परिग्रहधारी कुगुरु के निमित्त से बुद्धिमानों की भी बुद्धि चलायमान हो जाती है। लोक में उनके द्वारा उत्पन्न किये हुए गहलभाव से निपुण पुरुष ही शुद्ध धर्म से चलित हो जाते हैं अतः उनका निमित्त मिलाना योग्य नहीं है।।१४१।।

(३१) जिनके वचनों में जिनमन्दिर, श्रावक और पंचायती द्रव्य आदि में भेद वर्तता है वे युगप्रधान गुरु नहीं हैं अर्थात् कई चैत्यवासी पीताम्बर एवं रक्ताम्बर आदि कहते हैं कि 'यह तो हमारा मन्दिर, हमारे श्रावक और हमारा द्रव्य है तथा ये चैत्यालय आदि हमारे नहीं है'-इस प्रकार का भेद मानने वाले गुरु नहीं हैं।।१५२।।



आत्मसम्बोधन

जीवत्वशक्ति

भो आत्मन्! तुम नाम नहीं, तुम जीवराज हो। इंद्रियाँ मन—वचन—काय, आयु, श्वांशोच्छ्वास दूर बसे हैं। देखो अपने अंतर में तुम नित्य जीवत्व को धारण करने वाले जीवराज हो। सर्वज्ञ परमात्मा ने तुम्हारे इतिहास में जन्म—मरण नहीं देखा। तुम अजर—अमर—अविनाशी हो।

चितिशक्ति

तुम चैतन्यराज हो, चैतन्य धातु से रचित है तेरा चैतन्य महल है, इसी चैतन्यमहल के तुम वासी हो।

बाहर कर्म—नोकर्म की सेना आक्रामित है, उसको देख तुम क्यों आकुल—व्याकुल होते हो। आज तक कर्म—नोकर्म का पुरुषार्थ विफल ही हुआ क्योंकि चैतन्य महल में उनका प्रवेश ही नहीं हुआ और न कभी हो पाएगा। तुम उधर देख—देख कर क्यों व्याकुल होते हो? तेरा चैतन्य परिणमन भी कर्म—नोकर्म से अप्रभावी है।

तू चेतन चमत्कारी है। पहिचान अपने चमत्कार को, चैत्य बिना ही चैत्य प्रकाशे, यह सब चमत्कार तेरा ही है। तुझ में तेरा चैतन्य चमक रहा, देख चमत्कार को चेतन, तो कर्म—नोकर्म की सेना परास्त होगी। तू देख अपने चेतन को, तो तुझे सारा परिणमन चैतन्यरूप ही दिखेगा। चैतन्य महल में निर्मल परिणतियों के साथ चिद्विलास में मस्त हो जा।

दृशिशक्ति

भो आत्मन! तुम दृष्टा हो (देखने वाले हो) ऐसी अद्‌भुत शक्ति है आप में और आज तक आप देखते ही रहे हो। क्या देखते रहे हो? चित्र—विचित्र दृश्यों को देखते ही रहे हो, परन्तु कभी ऐसा विचार नहीं आया कि **'देखने वाला कौन है' जिसे मैं देखूं।**

कदाचित् महा भाग्य से गुरु उपदेश मिला हो तो विचार भी आया होगा कि 'मैं दृष्टा हूं' मुझे देखना चाहिए इतना ही विकल्प आया, दृष्टा की ओर मुड़ के देखा ही नहीं। जो अनवरत धारा दृश्यों को देखने की चल रही थी वह चलती ही रही। दृश्यों को देखते ही रहे क्योंकि **दृश्यों का आकर्षण कभी छूटा नहीं और दृष्टा की महिमा आई नहीं; इसीलिए दृष्टा को देखने की ललक अंतर में जागी नहीं।**

अब तो जागो और निर्णय करो **मैं दृश्य नहीं, दृष्टा हूँ।** दृश्यों का मेरे में प्रवेश नहीं। दृश्य मुझे छुते भी नहीं और मैं दृष्टा अपने सिंहासन से उतरकर दृश्यों को देखने जाता नहीं।

देखो अपनी महिमा दृश्यों के कारण नहीं। मैं दृश्यों के कारण नहीं परिणमता। स्वयं ही मैं दृष्टारूप परिणमता हूँ — ऐसा ही मेरा स्वभाव है। मैं दृष्टारूप परिणमता रहा, दृश्य प्रकाशित होते रहे। हम उन **दृश्यों को देखते रहे, दृष्टा को नहीं देखा।** (शेष पृष्ठ २४ पर)

श्रुत पंचमी जयवंत वर्ते!

भो ज्ञायक! तुम शांत चित्त हो!
चारों के विषय छोड़ो!
पांचवी से सुनो द्रव्यश्रुत!
कहते हैं वीरसेन स्वामी।
चारों का आधार पांचवां,
जीवो मंगलम्, जीवो सर्वोत्तम।
जीवो सरणं, केवलज्ञानम्!
अब देख अपने ज्ञान में!
पांचों ज्ञान में वर्ते केवलज्ञान!
कर विचार अंतर में!
मत देख चार भावों को!
पंचम भाव है तेरा रूप!
सर्वत्र व्याप रहा ज्ञानस्वरूप!
कर प्रयोग अंतर में बार–बार!
तेरी दुनिया में ज्ञेय नहीं!
ज्ञान में वश केवलज्ञान !
इसी ध्येय से लब्ध पंचमी!
हुई आनंदमई अनुभूति,
आत्मानुभूति की बड़ी साधना।
आत्मलीन हो प्रगटे ज्ञान पाँचवा,
चार को छोड़ चले आतम।
चला आत्मा पंचम गति को,
पूरी हुई यात्रा परमातम की।
श्रुत पंचमी जयवंत वर्ते!

उपर्युक्त लेख में क्षयोपशम लब्धि से लेकर मोक्ष तक की यात्रा दिखाई गई है। पांचो लब्धि, पांचवीं इंद्री, पंचमभाव, पांचवा ज्ञान, पंचमगति, पांचवा मंगल, पांचवा उत्तम, पांचवें शरण की महत्ता भी दिखाई है।

संपादक

संपादकीय

निश्चय सम्यग्दर्शन

शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से एकत्व में नियत/निश्चित व्यापक– अपने गुणपर्यायों में सदा व्यापने वाले पूर्ण ज्ञानघन स्वरूप इस आत्मा का अन्य चेतन तथा अचेतन सभी द्रव्यों से जुदा जो देखना/श्रद्धान करना है, यह ही नियम/निश्चय से सम्यग्दर्शन है।"

परमअध्यात्म तरंगिणी कलश ६ पं० बाबूलाल जैन दिल्ली

उक्त अर्थ से स्पष्ट ही है कि **शुद्धनय की दृष्टि से सभी चेतन–अचेतन परद्रव्यों से भिन्न आत्मा का श्रद्धान ही निश्चय से सम्यग्दर्शन है।** पं० श्री जयचन्द्रजी छावड़ा द्वारा किये गये अर्थ में भी लिखा है **"इस आत्मा को अन्य द्रव्यों से भिन्न देखना, श्रद्धान करना ही नियम से सम्यग्दर्शन है,"** और पं० जी ने भावार्थ में भी लिखा है कि **"सर्व स्वाभाविक और नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप गुण–पर्यायों के भेदों में व्याप्त होने वाला यह आत्मा" है।**

समयसार कलश ६

सम्यग्दर्शन का श्रद्धेय – "अपने गुण–पर्यायों में व्याप्त होने वाला" आत्मा।

"कैसी है जीववस्तु? अपने गुण–पर्यायों को लिये हुए है, इतना कहकर शुद्धपना दृढ़ किया है।"

पाण्डे राजमल जी

(पृष्ठ २३ का शेष) अब एक बार अपने अंतर में देख, तू अनंतदर्शन स्वरूप दृष्टा ही है, तो दृश्यों का आकर्षण छूट ही जाएगा और केवलदर्शन स्वरूप **परमात्मा का तू स्वयं ही दृष्टा हो जाएगा, तब तू तृप्त–तृप्त हो जाएगा।** तब एक समय ऐसा भी आएगा कि दृष्टा की ओर से उपयोग च्युत नहीं होगा तू उसमें मस्त हो जाएगा।

पं. श्री बाबूलाल जैन
दिल्ली

अध्यात्म योगीराम

बहत्तरवाँ पर्व

(देशभूषण-कुलभूषण केवलीद्वय का अयोध्या में आगमन)

अथानंतर श्रेणिक ने गौतमस्वामी से पूछा कि हे प्रभो ! *जैन आगम को पढ़ते हुए भी, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानते हुए भी, यह जीव अज्ञानी कैसे रह जाता है ?* गौतमस्वामी इसप्रकार बोले– हे श्रेणिक ! इसप्रकार के तीन भेदवाले मिथ्यादृष्टि होते हैं और तीनों ही संसार-समुद्र में डूबते हैं।

एक प्रकार का मिथ्यादृष्टि वह है जो व्यवहार पक्ष को पकड़ने वाला है, क्रियानय का पक्षपाती है। वह मात्र व्रतादिक को ही मोक्षमार्ग मानता है। व्रतों के अन्तर्गत वास्तव में दो कार्य होते हैं – एक तो प्रवृत्ति, और दूसरे निवृत्ति। साधक के अंतरंग में से जितनी कषाय चली जाती है उतनी निवृत्ति होती है; जितनी कषाय शेष रहती है उतनी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार, प्रवृत्ति कर्मकृत अथवा कषाय का कार्य है। परन्तु क्रिया का पक्षपाती उस प्रवृत्ति को कर्म का कार्य अर्थात् जीव के विकारी परिणाम न मानकर मोक्षमार्ग ही मानता है। जो बन्ध का कारण है, उसे भी चूँकि ऐसे व्यक्ति ने संवर–निर्जरा का कारण माना, अतः सात तत्त्वों में भी उसका श्रद्धान विपरीत ही रहा। ऐसा क्रियाकाण्डी व्यक्ति निज स्वभाव की खोज नहीं करता। यहाँ तक कि "स्व–संवेदनात्मक लक्षण वाला आत्म–अनुभव हो सकता है" – यह सत्य भी वह स्वीकार नहीं करता। सात तत्त्वों की शास्त्र के आधार से जो श्रद्धा बतलाई गई है, मात्र उसी को वह सम्यक्त्व मान लेता है। परन्तु उसकी यह मान्यता सम्यक् नहीं है क्योंकि ऐसी मान्यता तो द्रव्यलिंगी साधु के भी होती है जो कि साधन को ही साध्य मानता है।

दूसरे प्रकार का मिथ्यादृष्टि वह है जो निश्चयाभासी है, जिसे आत्मस्वरूप का अनुभव तो हुआ नहीं किन्तु आगम व अध्यात्म ग्रन्थों का अध्ययन करके, बोलने की चतुरता पाकर, आत्मा का अनेक प्रकार से कथन करता है, और फलस्वरूप स्वयं को सम्यग्दृष्टि मान लेता है। ऐसे जीव की अनन्तानुबन्धी कषाय गई नहीं, अंतरंग में से 'पर' के कर्तापने की मान्यता मिटी नहीं, निज ज्ञायकस्वभाव सम्यक् रूप से पकड़ में आया नहीं, स्वयं चाहकर विषयों में लगा हुआ है; फिर भी मुँह से कहता है कि "मैं तो कर्ता नहीं, यह सब तो कर्म के उदय का कार्य है।" ऐसा व्यक्ति समस्त शुभ क्रियाओं को छोड़कर स्वच्छन्द हुआ घूमता है; ज्ञान और वैराग्य जो ज्ञानी के वास्तविक लक्षण हैं, वे तो उसमें हैं नहीं। "भगवान् की भक्ति, त्याग आदि करूँगा तो 'पर' के कार्यों का कर्ता बन जाऊँगा" – ऐसा मानकर वह भक्ति व त्याग आदि क्रियाओं से भी विमुख हो रहा है। पहले, पाप से भयभीत होता था किन्तु अब समझता है कि ये तो कर्म के उदय के कार्य हैं, "मैं तो इनका कर्ता हूँ नहीं", अतः अब इसे पाप का भी भय नहीं रहा। शुभ क्रियाओं को मात्र बन्ध का कारण मानकर – उनमें साधनपने को सर्वथा नकारते हुए – स्वच्छन्द हो रहा है। पर्याय में जो रागादि हो रहे हैं उनकी जिम्मेवारी भी अपनी नहीं समझता। "वे तो कर्मकृत हैं, मैं तो उनका ज्ञाता हूँ" – ऐसा मानने से कषाय करने का डर ही इसे नहीं रहा। ऐसे लोग भी डूबते हैं – इन्हें सम्यक्त्व तो हुआ नहीं किन्तु स्वयं को सम्यग्दृष्टि मानकर स्वच्छन्द होते हैं। ऐसे लोग वस्तुतः साधन को ही मंजूर नहीं करते, उसके साधनपने को ही नहीं स्वीकार करते।

तीसरे प्रकार का मिथ्यादृष्टि वह है जो साधन को कारण मानता है; व्यवहार साधन करते हुए स्वतः मोक्षमार्ग की प्राप्ति हो जाएगी – ऐसा मानता है। यहाँ, प्रकरणवश कारण और साधन के भेद को भली–भाँति समझना आवश्यक है। कारण वह कहलाता है जो वास्तव में कार्य को सम्पन्न करने में समर्थ हो, जो कार्य को अवश्यमेव कर दे। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता ऐसा ही कारण है जिससे कि मोक्षरूपी कार्य नियमपूर्वक होगा। इस प्रकार, 'कारण' आत्मारूपी उपादान की ही पर्याय है। जबकि साधन वह बहिरंग पदार्थादिक है जिसका अवलम्बन लेकर हम अपना कार्य स्वयं कर सकें। उदाहरणतः हम भेदविज्ञान हेतु आगम का अवलम्बन लेते हैं, परन्तु आगम के अवलम्बन से नियमपूर्वक भेदविज्ञान होगा ही, ऐसा नहीं है। ऐसे ही, विकल्पों का अभाव करने के लिए बाहरी अवलम्बन का त्याग करते हैं परन्तु बाहरी वस्तु के त्याग से तत्संबंधी विकल्प मिट जाएंगे, ऐसा नहीं है। *भावसंयम के लिए द्रव्यसंयम का ग्रहण किया जाता है; परन्तु द्रव्यसंयम से भावसंयम हो ही जायेगा, ऐसा नियम नहीं है। उपयुक्त भूमिका को माध्यम-साधन बनाकर, सम्यक् पुरुषार्थपूर्वक हम अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं– ऐसी वस्तुस्थिति है। परन्तु अज्ञानी मानता है कि वह भूमिका ही उसको लक्ष्य की प्राप्ति करा देगी।*

उक्त तीनों प्रकार के व्यक्तियों से भिन्न वह व्यक्ति है, जो वास्तव में सम्यग्दृष्टि है। वह आत्म-अनुभवन को मोक्षमार्ग मानता है। तत्संबंधी पुरुषार्थपूर्वक आत्म-अनुभव करता है। जब नहीं कर पाता है, तब तीव्र कषाय से बचने के लिए देव-शास्त्र और गुरु का अवलम्बन लेता है। उनका अवलम्बन लेकर पुनः आत्मस्वभाव का अनुभव करने की चेष्टा करता रहता है, प्रमादी नहीं होता। यद्यपि वह शुभोपयोग और व्रतादि रूप आचरण को बन्ध का कारण मानता है; तथापि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के आश्रित शुभोपयोग को तथा व्रतादि को– क्रमशः आत्मदर्शन तथा आत्मस्थिरता के लिए– बाहरी साधन भी समझता है। निज पर्याय में जो कषाय हो रही है, उसकी जिम्मेवारी अपनी समझता है। उस कषाय को मेटने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। निरन्तर स्वभावरूप रहने की चेष्टा करता है। *वही संसार-समुद्र से पार होता है, जिसका अपने ज्ञानस्वभाव में ही अहम्पना है, पर्यायरूप कार्य में जिसकी अहंबुद्धि नहीं है।*

गौतम गणधर आगे इसप्रकार कहने लगे कि हे श्रेणिक ! अथानंतर अयोध्या के महेन्द्रोदय उद्यान में महासंघ सहित देशभूषण-कुलभूषण केवलीद्वय आये, जिनका वंशगिरि पर राम-लक्ष्मण ने उपसर्ग दूर किया था। उनके आगमन का समाचार पाते ही राम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न सपरिवार उनके दर्शनार्थ हाथियों पर सवार होकर चल दिये। उनके आगे-आगे त्रैलौक्यमंडन हाथी भी चल दिया।

केवली भगवान् का छत्र देखते ही रामचन्द्र आदि हाथियों से उतरकर पैदल चलने लगे। सबने हाथ जोड़कर भगवान् की स्तुति की, प्रणाम किया, पूजा की और फिर योग्यस्थान पर बैठ गये। तत्पश्चात् वे केवली भगवान् के वचन सुनने लगे। उनके वचन वैराग्य के मूलस्रोत हैं और रागादिक के नाशक हैं। *वस्तुतः रागादिक ही संसार के कारण हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र*

ही मोक्ष के कारण हैं। यतिधर्म तो साक्षात् मोक्ष का कारण है, जबकि श्रावकधर्म परंपरा से मोक्ष का कारण है। गृहस्थ का धर्म तो अल्प-आरंभ और अल्प-परिग्रह को लिये हुए कुछ सुगम है। जबकि मुनिधर्म निरारम्भ, निष्परिग्रह, अतिकठिन है और महाशूरवीरों द्वारा साधा जाता है। यह लोक अनादिनिधन है, इसका अंत नहीं है। यहाँ यह प्राणी लोभ से मोहित हो, नाना योनियों में महादु:ख पाता है। संसार से पार करनेवाला धर्म ही है। उस धर्म में मूल जीवदया की महिमा है। धर्म ही पूज्य है। जो धर्म का साधन करते हैं, वे ज्ञानी हैं। *यह दयामूलक धर्म जिनशासन के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है। यह जिनधर्म परम दुर्लभ है। इसका मुख्य फल तो मोक्ष है और गौण फल इन्द्रादिक पदवी हैं।*

तिहत्तरवाँ पर्व

(राम और लक्ष्मण के बीच तत्त्व-चर्चा)

केवली भगवान् के श्रीमुख से धर्मश्रवण करने के उपरांत वापस लौटने पर, अवसर पाकर, लक्ष्मण ने राम से कहा– हे देव ! *मोक्ष के लिए आत्म-अनुभव करना आवश्यक है; अतः उसके विषय में आप मुझे विस्तार से बताएँ ?* तब हर्षित होकर राम इसप्रकार समझाने लगे– प्रत्येक व्यक्ति के प्रतिसमय तीन क्रियाएँ एक साथ हो रही हैं– *एक तो शरीर की क्रिया, दूसरे शुभ या अशुभ विकारी परिणाम अर्थात् विभाव की क्रिया और तीसरी जानन-क्रिया। शरीर तथा मन की कैसी भी स्थिति हो, उसका जानना हो रहा है। हमें यह निर्णय करना है कि शरीर अथवा विकारी परिणाम मैं हूँ, या कि उनको जाननेवाला हूँ ?*

ये तीनों क्रियाएँ एक साथ हो रही हैं, इस बात का आजतक इस जीव को ज्ञान ही नहीं था। चूँकि जानन-क्रिया जीव की पकड़ में नहीं आयी, केवल शरीर और मन की क्रियाएँ ही पकड़ में आ रही हैं, इसलिये शरीर की क्रिया और राग-द्वेषरूप परिणामों को ही इसने अपना होना, अपना अस्तित्व समझा, स्वयं को इन्हीं का कर्ता माना। इनके अतिरिक्त, कोई जाननक्रिया भी हो रही है, जो इन दोनों से भिन्न है, विलक्षण है, यह बात कभी इसकी समझ में नहीं आयी। फल यह हुआ कि धर्म के लिये इसने एक ओर तो परिणामों को बदलने की चेष्टा की– अशुभ से शुभरूप बदलने का प्रयत्न किया और दूसरी ओर शरीराश्रित क्रिया को भी अशुभ से शुभरूप बदलना चाहा। यदि शरीर और मन की ये क्रियाएँ बदल गईं तो इस बदलाव को ही इसने धर्म मान लिया और अहंकार किया कि 'मैंने ऐसा कर लिया।' किन्तु ये दोनों ही पर-आश्रित क्रियाएँ हैं, जिनके बदलने से धर्म होना संभव नहीं है। धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, जिसका सम्बन्ध उस तीसरी, जानन-क्रिया से है। यह नासमझी, यह गलती उस जाननेवाले की ही है कि उसने अपनी स्वाभाविक क्रिया को न पहचानकर, विकारी परिणामों और शरीराश्रित क्रियाओं में ही अपनापना मान रखा है। यही अहंकार है, यही मिथ्यात्व है, यही संसार है, जो तबतक नहीं मिट सकेगा, जबतक कि यह जीव

जाननरूप अपने स्वभाव को नहीं जानेगा।

धर्म के मार्ग पर चलने की शुरुआत के लिये जरूरी है कि सर्वप्रथम हम यह निर्णय करें कि जानन-क्रिया मेरे ज्ञाता-स्वभाव से उठ रही है। जैसा अपनापना, जैसी एकत्व-बुद्धि शरीराश्रित क्रियाओं और विकारी परिणामों में है, वैसा अपनापना, वैसी एकत्व-बुद्धि उनके बजाय निज ज्ञान स्वभाव में आनी चाहिये। जिस किसी व्यक्ति के ऐसा घटित हो जाता है, उसे वास्तव में अनुभव होता है कि चलते हुए भी मैं चलनेवाला नहीं; अपितु चलने की क्रिया का सिर्फ जाननेवाला हूँ, बोलते हुए भी मैं बोलनेवाला नहीं; बल्कि बोलनेवाले को मात्र जाननेवाला हूँ, मरते हुए भी मैं मरनेवाला नहीं; अपितु मरण को केवल जाननेवाला हूँ। इसीप्रकार, क्रोध होते हुए भी मैं क्रोधरूप नहीं; बल्कि उसका मात्र जाननेवाला हूँ, लोभादिक होते हुए भी लोभादि का करनेवाला नहीं, मात्र जाननेवाला हूँ, दया-करुणा आदि परिणाम होते हुए भी मैं न तो उन-रूप हूँ, न उनका करनेवाला हूँ, अपितु उनका केवल जाननेवाला हूँ। मैं तो जानने के सिवाय और कुछ कर ही नहीं सकता– यही साक्षी-भाव है। इसप्रकार इस जीव के 'स्व' और 'पर' के बीच-भेदविज्ञान पैदा होगा। तब यह शरीर में रहते हुए भी शरीर से अलग हो जाएगा, संसार में रहते हुए भी संसार इसके भीतर नहीं रहेगा।

पहले इन तीन क्रियाओं को एक-दूसरे से भिन्न जानना है और फिर मात्र जाननपने में अपनापना-एकत्व-तादात्म्य स्थापित करना है। यहाँ जाननपने के संबंध में यह भली-भाँति समझ लेना चाहिये कि जो जानने का कार्य हो रहा है, वह कर्म-सापेक्ष क्षायोपशमिक ज्ञान का है– जो ज्यादा-कम होता है, जिसमें इन्द्रियों की और मन की सहायता की जरूरत है, जो सविचार-सविकल्प है, जो ज्ञान-विशेष है– इसको नहीं पकड़ना है; प्रत्युत, इसके माध्यम से उस स्रोत को पकड़ना है, जहाँ से यह ज्ञान-विशेष उठ रहा है, जो ज्ञान-सामान्य है, जो ज्ञान-पिण्ड है, जो निर्विचार-निर्विकल्प है, जिससे जानने की यह लहर उठी है।

उपर्युक्त तीनों क्रियाओं को अलग-अलग जानना तो अपेक्षाकृत सरल है; परन्तु उस जाननपने में, ज्ञातापने में अपनापना स्थापित करना कठिन है। फिर भी, इसके लिये उपाय है। थोड़ी देर के लिए शरीर की क्रिया का कर्त्ता न बनकर, मात्र देखने लगेंगे तो पायेंगे कि जाननेवाला शरीर से अलग है। इसीप्रकार विकल्पों का कर्त्ता न बनकर मात्र ज्ञाता बने रहें।

यदि हमने धैर्यपूर्वक अभ्यास चालू रखा, देखने-जानने वाले पर जोर देते गये तो पायेंगे कि एक क्षण के लिये सब शून्य हो जाता है, निर्विकार हो जाता है, एक अभूतपूर्व शान्ति छा जाती है। यदि ऐसा हुआ तो समझो कि चाबी मिल गयी कि विकल्प-रहित हुआ जा सकता है और जो एक क्षण के लिये हो सकता है, वह एक मिनट के लिये, एक घंटे के लिये, एक दिन के लिये व हमेशा के लिए क्यों नहीं हो सकता ? पहले बूँद-बूँद बरसेगा, फिर एक दिन बरसात आ जायेगी। तब

वह घटित होगा जो आजतक कभी नहीं हुआ था। मालूम होगा कि भीतर में कोई जगा हुआ है। सोते हुए भी वह जगा हुआ मालूम देगा, चलते हुए भी अनचला मालूम देगा, बोलते हुए भी अनबोला प्रतीत होगा। बाहर में सारी क्रियाएँ होंगी, परन्तु 'उनमें' कुछ भी होता न मालूम होगा। जैसे ही हम जगे, सावधान हुए, मात्र जाननेवाले बने, वैसे ही पायेंगे कि मन गया और शान्ति आयी। वास्तव में हमारा संसार हमारे में हैं। जबतक मन के विचारों में हमें रस आ रहा है, उनमें हमने अपनापना मान रखा है, तबतक ही उन्हें बल मिल रहा है। जैसे ही हम विचारों को स्वयं से भिन्न देखेंगे, वैसे ही हम उस ज्ञाता के, आत्मा के सम्मुख हो जायेंगे। सारे विचार-विकल्प गायब हो जायेंगे, सब शून्य हो जायेगा और मात्र एक जाननेवाला, ज्ञाता रह जायेगा। तभी अपना दर्शन, आत्म-दर्शन होगा, तभी राग-द्वेष और शरीरादि से भिन्न अपने स्वभाव का अनुभव होगा।

स्वानुभव के लिये साधक सबसे पहले बुद्धि के तल पर अपने चैतन्य-स्वभाव को शरीर से, शरीरसम्बन्धी पदार्थों जैसे स्त्री-पुत्रादिक और धन-सम्पत्ति आदि से, शुभ-अशुभ विकारी भावों-विचारों-विकल्पों से और मोहादि आठ प्रकार के कर्मों से भिन्न, अलग, न्यारा निर्णय करता है। तत्पश्चात् अपनी आत्म-शक्ति को शरीर-इन्द्रिय-विचार-विकल्पों से हटाकर ज्ञान के अखण्ड-पिण्ड की ओर उन्मुख करता है, उसके साथ अभेद-एकत्व स्थापित करता है– अपनी सत्ता को मात्र अपने अस्तित्व में अनुभव करता है। अथवा दूसरे शब्दों में, अपने ज्ञान की पर्याय में अपने चिद्-तन मय चैतन्यस्वभाव को ज्ञेय बनाकर उसे अपने-रूप देखता है। यही स्वानुभव, आत्म-दर्शन अथवा निजसत्तावलोकन है।

निचली भूमिका में स्थित साधक के आत्म-अनुभवन के दौरान आत्म-स्वभाव का स्पर्शमात्र ही हो पाता है। परन्तु स्पर्श होते ही जगत मिट जाता है, शरीर भूल जाता है, मन भूल जाता है, सिर्फ चैतन्य का दीपक जलता रहता है, शरीर पृथक् दिखायी देता है। फिर शरीर का जन्म इसका जन्म नहीं रहता और न शरीर की मृत्यु इसकी मृत्यु रह जाती है– मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। इसने मृत्यु को प्रत्यक्ष जो देख लिया है। जो मृत्यु में घटता है, वह आज इसे साक्षात् हो गया है; किन्तु यह दशा ज्यादा देरतक नहीं रहती। यदि जल्दी-जल्दी अनुभव होता रहे तो विरक्ति बनी रहती है, परन्तु यदि बहुत दिनों तक अनुभव न हो तो पुरानी याद के तुल्य ही रह जाती है।

आत्म-अनुभव होने पर भी, ज्ञान-स्वभाव में अपनापना स्थापित होने पर भी, साधक में अभी आत्मबल की इतनी कमी है कि उस ज्ञान-स्वभाव में ठहरना चाहकर भी ठहर नहीं पाता है। इस स्थिति का कारण क्या है ? यह कैसी विवशता है ? इसे आत्मबल की कमी कह सकते हैं, राग की तीव्रता कह सकते हैं अथवा पूर्व संस्कारों का या कर्मों का फल कह सकते हैं। यद्यपि श्रद्धा में सही वस्तु-तत्त्व आ गया है; तथापि तद्रूप परिणति नहीं हो पा रही है। शरीर में अपनापना तो नहीं रहा, परन्तु शरीर है। राग-द्वेष में अपनापना तो नहीं रहा, परन्तु राग-द्वेषरूप भाव अभी मौजूद हैं।

पूर्व संस्कार इसे स्वभाव में नहीं ठहरने देते हैं; अतः उन्हें तोड़ने के लिये साधक नये संस्कार डालता है। अभीतक शरीर से प्रत्येक समय एकत्व की भावना करके इसने जो संस्कार एकत्र किये थे, वे अब शरीर के प्रति अन्यत्व की भावना के बल पर ही मिट सकते हैं। अतः अब यह उसी का उपाय करता है। अभीतक रागादि और शरीरादि का कर्त्ता बनता था, अब उनके रहते हुए भी उनका ज्ञाता हो गया है-- कर्तृत्व तथा अहम्पना समाप्त हो गया है।

चैतन्य-स्वभाव के अनुभवन से यह निश्चित हो जाता है कि मैं एक, अकेला, अनन्तगुणों का पिण्ड, चैतन्य-तत्त्व हूँ, मेरा न तो जन्म है, न मरण है, न मैं मनुष्य-तिर्यञ्च-देव-नारकी हूँ और न ही स्त्री-पुरुष-नपुंसक, न मैं धनिक-निर्धन, मूर्ख-बुद्धिमान आदि हूँ और न परपदार्थों के संयोग-वियोग मुझे सुखी-दुःखी कर सकते हैं। अब अहंकार पैदा होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि अहंकार का तो आधार ही शरीरादि में, पुण्य-पाप के फलस्वरूप परपदार्थों में और शुभ-अशुभ भावों में अपनेपने की मिथ्या मान्यता है। पर्याय में अहंबुद्धि टूट जाती है। पर को सुखी-दुःखी करने का मिथ्या अहंकार नहीं होता। शरीर के स्तर पर तो कोई इष्ट है और कोई अनिष्ट; परन्तु चेतना के स्तर पर न कोई इष्ट है, न कोई अनिष्ट। अतः राग-द्वेष करने का कोई कारण ही नहीं रह जाता; क्योंकि इष्ट-अनिष्ट वस्तु में नहीं है। वस्तु में इष्ट-अनिष्टता दिखाई देना हमारा ही दृष्टिदोष है। इसप्रकार से वस्तु-तत्त्व का निर्णय चौथे गुणस्थान में घटित होता है और यहीं से मोक्षमार्ग या धर्म-मार्ग की शुरुआत होती है।

इसप्रकार आत्मानुभव के बारे में श्री राम ने लक्ष्मण को विस्तार से समझाया।

(पृष्ठ १५ का शेष) नही होता, तब भी उसकी पतिरूप अनुभूति छूटती नहीं है; उसी प्रकार जब उपयोग ज्ञेय सन्मुख होता है तब भी उसे ज्ञायक की अपनत्वरूप अनुभूति रहती है।

प्रश्नः— उपयोग नहीं होने पर भी ज्ञायक में ही अपनत्व रहता है, उसे अनुभूति कहें या प्रतीति?

समाधानः— श्रद्धा अपेक्षा प्रतीति और ज्ञान की अपेक्षा अनुभूति कही।

इस प्रकार भेदविज्ञान पूर्वक शुद्धात्मा की उपयोगरूप अनुभूति, लब्धिरूप अनुभूति/प्रतीति से संवर होता ही है।

(पृष्ठ ५ का शेष) विद्यालय खोला जावे, जिसका नाम कुंदकुंद विद्यालय हो। दो दिन बाद विद्यालय का मुहूर्त होना निश्चित हुआ। बीस रुपया मासिक पर पंडित मुंशीलाल जी, जो संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे, नियुक्त किए गए अंत में विद्यालय का मुहूर्त हुआ, रुपया सब वसूल हो गये, एक बिल्डिंग भी विद्यालय को मिल गई। पश्चात् वहां से चलकर हम सागर आ गये। विद्यालय की स्थापना सन् १९३५ में हुई थी। यह विद्यालय अब कॉलेज के रूप में प्रमाणित हो गया है। जिसमें लगभग ६०० छात्र अध्ययन करते हैं और ३० अध्यापक हैं।

चर्चा संग्रह

ब्र. रायमल्ल जी
पं. गंभीरचन्द अलीगंज

प्रश्न:— तेरापंथी परस्पर साधर्मी भाई को 'श्री जिनाय नमः करते हैं, उसका अर्थ क्या है?

समाधान:— सर्व मतों में व्यवहार प्रवृत्ति अथवा धर्म प्रवृत्ति में अपने इष्टदेव का स्मरण करते हैं, अत: जैनी भी अपने इष्टदेव को स्मरण करते हैं।

चर्चा:— तेरापंथ का अर्थ—

जितने मत हैं, वे या तो देव के नाम पर हैं या गुरु के नाम पर हैं।

(परन्तु) जिनधर्म के साथ ऐसा नहीं है, अत: जो अरहन्त देव उपरांत और देव को नहीं सेवता है, मात्र अरहन्त को ही सेवता है। अत: **हे जिनेन्द्र देव! मैं तेरापंथी होने से तेरी आज्ञानुसार चलता हूँ।** तेरी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करुं, तेरी आज्ञा मस्तक ऊपर तिष्ठती है हमारे देव तुम ही हो।

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति इन तेरह प्रकार के धारी दिगम्बर निर्ग्रन्थ वनवासी गुरु को मानते हैं और परिग्रही, विषयी भ्रष्ट गुरु को नहीं मानते हैं, अत: गुरु की अपेक्षा भी तेरापंथी कहते हैं अथवा दिग् कहिए देशों—दिशा, अंबर कहिए वस्त्र, अत: जिस गुरु के दिशा ही वस्त्र हैं, तिन ही का नाम दिगम्बर गुरु है। उन दिगम्बर गुरु का उपासक का उपासक अर्थात् सेवक उसको दिगम्बर धर्म का धारक कहते हैं। अत: देव अरिहंत, गुरु निर्ग्रन्थ, धर्म जिनप्रणीत दयामय वीतराग, उसकी श्रद्धा, प्रतीति करे उसको ही दिगम्बर जैनी कहते हैं, अथवा सम्यग्दृष्टि कहते हैं। जो अपने निज आत्मा को पहचानता है, भेदविज्ञान के बल से आपा—पर का स्वरूप भिन्न जाने, आप को आत्मा जाने, और **शरीर पर्याय को पुद्गल का पिंड न्यारा जाने, अपना लक्षणादिक चिद्रूप ज्ञानमय जाने,** शरीर को जड़ जाने, इत्यादि द्रव्य—गुण—पर्याय, उत्पाद—व्यय—ध्रुव से विशेष आपा—पर का स्वरूप परिणतिरूप भासे, उसको अध्यात्मी कहते हैं। वह भी **आत्मज्ञान के जानने वाले तेरापंथीं में ही पाये जाते हैं, क्योंकि जिनके देव—गुरु—धर्म की श्रद्धा ही नहीं है तो आपा—पर जाननापना कहाँ से होगा।** और देव—गुरु की श्रद्धा बिना तीन काल में आपा—पर का जानपना होता नहीं है, **अत: तेरापंथी के ही देव—गुरु—धर्म की श्रद्धा पायी जाती है, उनके ही व्यवहार सम्यकत्व बिना निश्चय सम्यकत्व कदाचित् भी नहीं होता है। इस प्रकार से तेरापंथी का स्वरूप जानना।**

शिरोमणि संरक्षक



गुप्त दान
कोलकाता



श्री मोहित जैन एडवोकेट
पुत्र श्री प्रवीण कुमार जैन, आगरा



श्री सुबोध कुमार जैन
पुत्र श्री अशोक जैन धवल



श्री विवेक जैन
पुत्र श्री अशोक जैन धवल



अनुभव जैन
पुत्र श्री अशोक जैन धवल

परम संरक्षक



डॉ0 सुभाष जैन राघव
पुत्र स्व.श्री बलवीर सिंह राघव
सिरसागंज



श्री अनिल कुमार जैन
रपरिया कोलकाता



श्री विजय कुमार जैन
राजा ग्लास
फिरोजाबाद



श्री मनोज कुमार जैन
पुत्र श्री इन्द्रभान जैन,
कानपुर



श्री चक्रेश कुमार जैन
पुत्र स्व. श्री फूलचन्द्र जैन
सिरसागंज



श्री प्रताप चन्द्र पोद्दार
पुत्र स्व.श्री कैलाशचन्द्र जैन
सिरसागंज



श्री प्रमोद कुमार जैन
सोना किराना स्टोर
सिरसागंज



श्री आमोद रावत मुखिया
पुत्र स्व0 श्री चिरंजी लाल
मुखिया सिरसागंज



श्री महेश चन्द्र जैन
महेश बुक डिपो
सिरसागंज

संरक्षक



गुप्त दान
दिल्ली व सिंगापुर
भरतपुर व ग्वालियर



स्व. श्रीमती कान्ति देवी
राजीव कुमार सोनी (पुत्र)
नगलादानी वाले सिरसागंज



स्व. श्रीमती मायारानी जैन
प्रो. प्रकाशचन्द्र जैन (पति)
बीकानेर



स्व0 श्रीमती कमलेशकुमारी जैन
प्रो0 श्री विजयकुमार जैन (पति)
भिण्ड (म0प्र0)



स्व0 श्रीमती (मां) की स्मृति में
श्री दिनेश चंद्र जैन पचौलये
कानपुर



श्री अशोक जैन रपरिया
पुत्र स्व. श्री स्वदेशी लाल जैन
सिरसागंज



श्री आलोक कुमार जैन
पुत्र स्व. श्री बृजरतन जैन
सिरसागंज



श्री मनोज जैन (सोनू)
पुत्र श्री सुरेश चन्द्र जैन
सिरसागंज



स्व0 श्री चिरंजी लाल सोनी
राजीव कुमार (पुत्र) सोनी
नगला दानी वाले, सिरसागंज



स्व. पूरनचन्द जैन
(पमारी वाले)
शिकोहाबाद



श्री प्रकाशचन्द जैन
पौद्दार, सिरसागंज, की स्मृति में
बृजमोहन लाल जैन, हरिद्वार (पुत्र)



श्री नथमल जैन
मालवीय नगर,
जयपुर



स्व.श्री सुरेश चन्द्र जैन
कुवर भरे, सिरसागंज



श्री सुभाष चंद्र जैन तिहइया
आयरन स्टोर
इटावा रोड, सिरसागंज



श्री विनय कुमार जैन रावत
पुत्र श्री ऋषभ चंद्र जैन रावत
सिरसागंज



श्री संजय कुमार जैन बजाज
महावीर टेन्ट हाउस
फिरोजाबाद



स्व. श्री अजित प्रसाद जैन
(सिरसागंज) की स्मृति में
श्री दिनेशचन्द्र जैन रावत (पुत्र)



स्व0 श्री प्रकाशचन्द्र सोनी
सुनील कुमार सोनी (पुत्र)
नगलादानी वाले, सिरसागंज



सनत कुमार जैन
(कोल्ड डिपो)
सिरसागंज



मनोज जैन
दिल्ली



लालचन्द मोदी
सिरसागंज



स्व. श्री नरेशचंद्र जैन बजाज की स्मृति में
अमित जैन (टनाटन) फिरोजाबाद

DHARMIK PRINTED MATTER सम्पादक : अशोक जैन धवल
जैन नगर, इटावा रोड, सिरसागंज, फिरोजाबाद (उ.प्र.)
Mob. : 8923337256 Email : dhawal.adhyatam@gmail.com